ओ३म्

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ॥

हम कल्याण मार्ग के पथिक बनें।

संवर्द्धिनी

सत्यं वद | विशेषाङ्क - 16 | धर्मं चर

सम्पादक :-

आचार्य श्याम

दूरभाष - 09811064932, 09555534381

सह-सम्पादक :-

डा0 कर्णदेव शास्त्री

दूरभाष - 09810322989

संरक्षक :-

सतीश मेहता, रवि कोहली

कृष्णा झॉब, नीलम सूद, सरला सुखीजा

कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

आई-30, नारायण विहार, नई दिल्ली-28

दूरभाष - 09350733444, 09555534381

प्रधान कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, नई दिल्ली-59

E-mail - samvardhini@yahoo.co.in
dharm.samvardhini@gmail.com

Website - www.dharmsamvardhini.com

कहाँ क्या पढ़ें ? .....

1.	प्रभु-स्तवन	पृष्ठ-2
2.	सम्पादकीय	पृष्ठ-3
3.	वेदामृतम्	पृष्ठ-5
4.	क्या हम स्वतन्त्र हैं ?	पृष्ठ-25
5.	तेजमहालय कहो, ताजमहल नहीं	पृष्ठ-27
6.	काव्याञ्जलि	पृष्ठ-32
7.	मां का महत्त्व	पृष्ठ-32
8.	दो लहरों की टक्कर	पृष्ठ-33
9.	क्या मांस मनुष्य का आहार है ?	पृष्ठ-36
10.	महर्षि उवाच	पृष्ठ-38
11.	सिरदर्द दूर करने के उपाय	पृष्ठ-38
12.	बच्चों को संस्कारवान् बनायें	पृष्ठ-39
13.	वेदों का सांस्कृतिक विश्लेषण	पृष्ठ-43
14.	संस्कृत-भाषा का महत्त्व	पृष्ठ-45
15.	यजुर्वेद में प्रश्नोत्तर मन्त्र	पृष्ठ-46
16.	शिष्टाचार	पृष्ठ-47

ओ३म्

* प्रभु-स्तवन *

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा।
यस्या ह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥

(ऋ0 10/43/6)

[कृष्णः ऋषिः। इन्द्रो देवता। निचृद् जगती छन्दः। निषाद स्वरः]

- पद्यार्थ -

आओ प्यारे ! आओ, आओ॥
मेरे सवनों में रम जाओ, मेरे सवनों में रम जाओ।
आओ, प्यारे वृषा ! शक्र तुम, सोमपान कर जाओ।
सवन हो रहे अब तक सूखे, इनमें मधुर-रस लाओ।
आओ प्यारे ! आओ, आओ॥1॥

जितना कहो, पुकारूँ उतना, जितना कहो पिलाऊँ।
तुम्हें जगाने जन्म-जन्म तक, नव-नव मङ्गल गाऊँ।
किससे तृप्ति तुम्हारी होगी, यह तो बतला जाओ।
आओ प्यारे ! आओ, आओ॥2॥

कब से हृदय-कुटी में मेरी, बैठे, किये प्रतीक्षा।
आज पिलाने को ही आये, लेने प्रेम परीक्षा।
अब तो तृप्त हुए जब जाओ, शुद्ध समर्पण पाओ।
आओ प्यारे ! आओ, आओ॥3॥

वेदव्रत

सम्पादकीय



'धर्म' जीवन का वह शाश्वत सत्य है, जिसके बिना मनुष्य पशु के समान माना जाता है। **'धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः'** कहकर महर्षि चाणक्य जी ने धर्म से हीन मनुष्य को पशुवत् की संज्ञा दी है। पर जिस काल में यह पंक्तियाँ लिखी गई होंगी, हो सकता है कि धर्म से हीन मनुष्य उस काल में पशुवत् माना जाता हो; पर वर्त्तमान काल में मनुष्य के कर्मों व उसके लक्ष्य पर सूक्ष्मता के साथ विचार करें, तो मनुष्य पशु के समान नहीं, अपितु पशु से भी अति निकृष्ट दिखायी देगा।

मनुष्य से इतर संसार में जितने भी प्राणी भोगयोनि में आये हैं, वे आज भी प्राकृतिक नियम का सहजता से अनुसरण कर रहे हैं, पर मनुष्य एक ऐसा जीव है जो निश्शङ्क होकर अधर्म का अनुगमन करते हुए ऐसे-ऐसे कृत्यों में अनुरक्त है कि यदि आप उसके कृत्यों पर कभी दृष्टि डाल भी लें, तो सिवाय घृणा और ईर्ष्या के आपको कुछ भी न मिलेगा। आप सोचने पर मजबूर होंगे कि इतनी निकृष्टता तो पशु-पक्षियों में भी नहीं देखी जाती। धर्म का नाम लेकर आज जितने भी कार्यक्रम होते दिखायी दे रहे हैं, वह मात्र दिखावा है, यथार्थता नहीं। यथार्थता होती, तो धर्म का अवलम्बन करने पर आत्मा पवित्र व महान् हो जाती। इसलिये जब हम किसी पवित्र साधु व संन्यासी के उत्कृष्ट कर्मों को देखते हैं, तो अनायास मुख से शब्द निकल पड़ते हैं कि - **'ये तो बड़े धर्मात्मा हैं।'** इस प्रकार का परम्परागत शब्द प्रयोग से यह बात तो स्वयं सिद्ध है कि धर्म का सम्बन्ध आत्मा से होता है।

आज भारत में धर्म के नाम पर जो भी कुछ किया जा रहा है, वह धर्म के नाम पर मात्र व्यापार है। कौन-सा ऐसा कार्य है जो संस्थाओं में धन एकत्रित करने की भावना से न किया जा रहा हो ? अपवाद में कुछ लोगों को छोड़ दें, तो अधिकांश पदाधिकारी एषणाओं से भरे पड़े हैं। उनके क्षेत्र की कौन-सी ऐसी संस्था है, जिसमें उनका हस्तक्षेप न हो ? अनेकों लोग तो ऐसे भी हैं कि वे घर बैठे-बैठे रिमोट-कंट्रोलर की भाँति संस्था चलाकर अपनी ऐषणा को तृप्त करने में संलग्न हैं। अब आप विचार करें कि जो लोग ऐषणायुक्त होंगे, तो क्या वे धर्म का अर्जन कर सकते हैं ? महर्षि मनुजी की सम्मति है -

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते॥

(मनु0 2/13)

जो धर्म और काम के प्रति अनासक्त हैं, वे ही धर्म का अनुसरण कर, स्वयं धर्म का अर्जन कर सकते हैं और अन्यों को भी धर्म के मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित कर सकते हैं।

धर्ममार्ग पर चलना आसान नहीं है। उपनिषद् के शब्दों में यदि कहा जाय, तो **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्ययाः'** धर्म के मार्ग पर

चलना, छुरे की धार पर चलने के समान है। इतिहास में ऐसे-ऐसे महान् पुरुषों के उदाहरण भरे पड़े हैं, जिन्होंने धर्म की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। राजा शिबि और महर्षि दधीचि ने अपना शरीर धर्म रक्षार्थ दान कर दिया। राजा हरिश्चन्द्र धर्म की ख़ातिर राज्य ही से वंचित नहीं हुए, अपितु उन्होंने अपनी पत्नी-पुत्र और स्वयं को भी बेचकर भी धर्म की रक्षा की। धर्मात्मा मनुष्य तभी बन सकता है, जब उसमें यह भावना स्थिर हो जाये कि - मैंने यह कार्य कर्त्तव्य की भावना से ही करना है। इसमें मेरा स्वार्थ या मेरी ऐषणाओं को किञ्चित् भी स्थान नहीं है।

यदि सूक्ष्मता के साथ देखा जाय तो आपको यह अवश्य अहसास होगा कि - **स्वार्थ व ऐषणा से रहित मनुष्य ही धर्म की सेवा कर सकता है।** जो लोग ऐसा पुण्य कार्य करते हैं, तब समझ लीजिये कि **'धर्मो रक्षति रक्षितः'** रक्षा किया हुआ धर्म, फिर उस अपने धर्मरक्षक की स्वयं रक्षा करता है।

'धर्म संवर्द्धिनी सभा' पिछले दो दशक से जिस प्रकार से सेवा के प्रकल्पों में संलग्न है, इसके कार्यकर्त्ता स्वार्थ व ऐषणा का स्पर्श भी नहीं करना चाहते। वे जब इस मिशन के साथ संयुक्त होते हैं, तो उन्हें यह भाव मन में स्थिर रखना पड़ता है - **'जो घर बारै आपना, वो चले हमारे साथ'।** 'धर्म संवर्द्धिनी सभा' मानव-धर्म या वैदिक-धर्म के संवर्द्धन का एक अभियान है। महर्षि के स्वप्नों को साकार करने का एक प्रकल्प है। यहाँ अचल सम्पत्ति के एकत्रीकरण की कल्पना भी पाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस अभियान में आहुति देने वाले वह लोग हैं, जो आँख बन्दकर, आहुति तो देते हैं, पर नाम और फोटो की उन्हें किञ्चित् भी इच्छा नहीं है।

यह संस्था जहाँ बड़ी उम्र के लोगों के मध्य **धर्म के संवर्द्धन** का कार्य करती है, वहाँ अधिक से अधिक शक्ति का व्यय उन बालक और बालिकाओं के निमित्त करने का प्रयास करती है, जो इस नये भारत का भविष्य हैं। हमारी बालक और बालिकाओं के निमित्त साप्ताहिक धर्म कक्षायें, योग विद्या से जोड़ने का प्रयास, जिनके माता-पिता बच्चों के शैक्षणिक भार को वहन करने में अक्षम हैं, उन्हें गुरुकुलीय शिक्षा से संयुक्त करने का कार्य, स्वास्थ्य रक्षा हेतु विशेष डॉक्टर समुदाय द्वारा स्वास्थ्य परीक्षण कर उन्हें उचित चिकित्सा देने का प्रयत्न - इस धर्म संवर्द्धिनी सभा का एकमात्र अभियान है। इस अभियान को और अधिक गति-प्रगति व विस्तार तभी दिया जा सकता है, जब आपके तन-मन-धन की आहुति इस धर्मयज्ञ में निरन्तर पड़ती रहे। यदि आप चाहते हैं कि ऐषणा-रहित होकर, हम मात्र निस्वार्थ-सेवा के निमित्त आहुति देने की इच्छा रखते हैं, तो आपका यह पुण्य प्रयास व आपका चिन्तन आपके धर्मात्मा बनने का कारक अवश्य बनेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

परमपिता परमात्मा आप सबको धर्ममार्ग पर चलने की प्रेरणा व शक्ति प्रदान करे, जिससे आपका आत्मा धर्मात्मा बन सके; ऐसी हमारी प्रभु से प्रार्थना है। ❐

वेदामृतम्

आचार्य श्याम

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥

(ऋग्वेद 10/63/10; यजु0 21/6; अथ0 7/6/3)

(ऋषिः गयःप्लातः। देवता विश्वेदेवाः। छन्दः पादनिचृत् जगती। निषादः स्वरः)

पदच्छेदः –

सुत्रामाणम्। पृथिवीम्। द्याम्। अनेहसम्। सु-शर्माणम्। अदितिम्। सु-प्रणीतिम्। दैवीम्। नावम्। सु-अरित्राम्। अनागसम्। अस्रवन्तीम्। आ-रुहेम। आ। स्वस्तये।

शब्दार्थः –

(सुत्रामाणम्) सम्यक् प्रकार से रक्षा करने वाली **(पृथिवीम्)** विस्तृत प्रभाव वाली **(द्याम्)** द्युलोक के समान प्रकाशयुक्त **(अनेहसम्)** न्यूनता व त्रुटि-दोष से रहित **(सु-शर्माणम्)** उत्तम सुख देने वाली **(अदितिम्)** सुदृढ़ या अखण्डित **(सु-प्रणीतिम्)** अच्छे प्रकार निर्मित की हुई **(दैवीम्)** दिव्यताओं से युक्त **(नावम्)** मनुष्य-शरीर रूपी नौका अर्थात् भवसागर पार करानेवाली **(सु-अरित्राम्)** गति देने वाले साधन अर्थात् ज्ञान और कर्म रूपी सुन्दर चप्पुओं से युक्त **(अनागसम्)** अपराध से रहित **(अस्रवन्तीम्)** न चूने वाली अर्थात् छिद्र रहित **(आ-रुहेम)** आरोहण करें, उस नाव में बैठें **(आ)** अच्छी प्रकार से **(स्वस्तये)** कल्याण के लिये।

भावार्थः –

हे परमात्मन्! आपकी कृपा से जीवन का सम्यक् रक्षण करने वाली, विस्तृत प्रभाव युक्त, द्युलोक के समान प्रकाश युक्त, किसी भी प्रकार की न्यूनता वा दोष से रहित, उत्तम सुख देने वाली, अखण्डित एवं सुदृढ़ रूप वाली, जिसको अच्छे प्रकार निर्मित कर, जिसमें दिव्य गुणों का आधान किया गया है, ऐसी मानव शरीर रूपी दिव्य नौका, जिसको गति देने वाले ज्ञान-कर्म साधन रूप से युक्त कर, अपराध व छिद्र से रहित इस दिव्य नौका पर हम इहलौकिक-पारलौकिक कल्याण के लिये आरोहण कर, मोक्षसुख को सम्यक् प्रकार से प्राप्त कर सकें।

व्याख्या –

प्रस्तुत मन्त्र महर्षि दयानन्द सरस्वती जी द्वारा संकलित स्वस्ति-विषयक मन्त्रों के अन्तर्गत **'स्वस्तिवाचनम्'** प्रकरण का 16 वां मन्त्र है। यह मन्त्र ऋग्वेद के मण्डल 10, सूक्त 63 का 10 वां मन्त्र; यजुर्वेद के अध्याय 21 का छठा मन्त्र तथा अथर्ववेद के काण्ड 7, सूक्त 6 के तृतीय मन्त्र में भी प्राप्त होता है। वैदिक वाङ्मय में यह मन्त्र अनेकों स्थलों पर ऋषि-मुनियों द्वारा प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में इस मन्त्र का ऋषि **'गयःप्लातः'** है, जबकि अथर्ववेद में इस मन्त्र का ऋषि **'अथर्वा'** है। इसी प्रकार यजुर्वेद और अथर्ववेद में इस मन्त्र का देवता **'अदिति'** है, तो ऋग्वेद में इस मन्त्र का देवता **'विश्वेदेवा'** है। हम सब वेदाध्ययन करने वाले इस बात से अच्छी तरह परिचित हैं कि जिन मन्त्रों का साक्षात्कार समाधि अवस्था में बैठकर जिन तपस्वी-ऋषियों ने किया, उन्हें जनमानस ने **'ऋषि'** उपाधि से विभूषित कर, कालान्तर में उन ऋषियों के प्रति आदरार्थ व कृतज्ञता का भाव प्रकट करने की इच्छा से उन मन्त्रों के साथ उनके नाम-स्मरण को भी अनिवार्य कर दिया, जिन्होंने मन्त्र के सम्पूर्ण विषय पर परमात्म-कृपा से साक्षात्कार किया था। इसी प्रकार वेदाध्ययन करने वाले इस बात से भी अनभिज्ञ न होंगे कि प्रत्येक मन्त्र का कोई न कोई देवता होता है। देवता बाह्य जगत् में कोई पृथक् पदार्थ नहीं, अपितु मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को ही देवता कहा जाता है। जब हम किसी भी मन्त्र के अर्थ पर विचार करेंगे तो हमें सर्वप्रथम ऋषियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उन मन्त्रों के देवता शब्द पर विचार करना पड़ेगा, जिससे उस मन्त्र के विषय वा शब्दों की सम्यक् सङ्गति की जा सके।

प्रस्तुत मन्त्र **'सुत्रामाणं पृथिवीम् ...'** हमें तीन वेदों में प्राप्त होता है, पर जब हम ऋषि-विषय पर चिन्तन करेंगे तो ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्र का ऋषि **'गयःप्लातः'** है, जबकि अथर्ववेद के मन्त्र का ऋषि **'अथर्वा'** है। यदि दोनों ऋषियों के नामों पर विचार करें तो **अथर्वा** वह ऋषि है जो साधना के कठिन से कठिन द्वन्द्वों में कभी विचलित नहीं हुआ। उसकी एकनिष्ठ भक्ति, साधना और श्रद्धा का ही परिणाम था कि उसके गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर जनमानस ने उसका **'अथर्वा'** नाम रख दिया। उन ऋषियों का मूल नाम चाहे कुछ भी रहा हो, पर जब उन्होंने समाधिस्थ अवस्था में जिस मन्त्र का साक्षात्कार किया, उन मन्त्रों के साथ उनके नाम को भी संयुक्त कर दिया गया। यजुर्वेद और ऋग्वेद के मन्त्र का ऋषि **'गयःप्लातः'** है। **'गयः'** प्राणों को कहा जाता है और **'प्लातः'** पूर्णत्त्व अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस महान् आत्मा ने प्राणविद्या का सम्प्रयोग कर, अपने जीवन को प्राणत्त्व की ऊर्जा से युक्त कर लिया, वह ऋषि **'गयःप्लातः'** कहलाया। भाव यह है कि ऋषि **अथर्वा** हो वा **गयःप्लातः**, पर बिना प्राण साधना के और बिना सम्पूर्ण भयमुक्त साधना के परमात्म-साक्षात्कार कर, मन्त्र का पूर्णतः दर्शन करना असम्भव है।

इसी प्रकार जब हम देवता शब्द पर विचार करेंगे तो ऋग्वेद के मन्त्र का देवता **'विश्वेदेवा'** है और यजुर्वेद-अथर्ववेद के मन्त्र का देवता **'अदिति'** है। 'विश्वेदेवा' शब्द का अर्थ है - विश्व का धारक देव। पर जब हम 'अदिति' शब्द पर विचार करेंगे तो जिसको कभी समाप्त न किया जा सके, वह अखण्डित शक्ति 'अदिति' कहलाती है। वह चाहे जड़ पदार्थ के रूप में हो वा चेतन प्राणी के रूप में। 'देव' दिव्य गुणों के धारकत्त्व गुण के कारण कल्याणार्थ कर्म करने वाले को कहते हैं, तो 'अदिति' भी उन देवों का नाम है जिन पर विश्व धारित है और जो सदैव विश्व को धारण करने का पूर्णता से कार्य करते हैं। इस अदिति शब्द को समझने के लिये ऋग्वेद के निम्न मन्त्र का अवलोकन आवश्यक है -

अदि॑तिर्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्षमदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः। विश्वे॑दे॒वा अदि॑तिः पञ्च॒ जना॒ अदि॑ति॒र्जात॒मदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥

(ऋ0 1/89/1)

अर्थात् - द्यु-अन्तरिक्ष लोक अदिति हैं। माता-पिता-पुत्र अदिति हैं। विश्व के समस्त देव और उनके कार्यों का संवर्द्धन करने वाले ब्राह्मणादि वर्णस्थ जन तथा संसार का स्वयं अधिपति अदिति है, जिनके कारण संसारचक्र व्यवस्थित रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है।

सामान्यतः **'अदिति'** का अर्थ है - **अखण्डित**। जिसको खण्डित न किया जा सके, जिसको समाप्त न किया जा सके। जब इस भाव को लेकर आप सम्पूर्ण संसार का अवलोकन करेंगे, तब आपके मन में यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि संसार में अनेकों पदार्थ खण्डित देखे जा सकते हैं तो उनकी अदिति संज्ञा क्यों है? ऐसी शङ्का वाले लोगों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अदिति शब्द उन पदार्थों के नित्यत्त्व भाव को इंगित कर रहा है, न कि उनके रूपत्त्व भाव को। रूपत्त्व भाव में प्रकृतिस्थ जितने भी पदार्थ हैं, उनमें ह्रास और वृद्धि प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होती है, पर जब उन पदार्थों की मूलप्रकृति पर विचार करेंगे तो उनके मूल में नित्यत्त्व का बोध अवश्य होगा। माता-पिता-पुत्र रूप की दृष्टि से खण्डित दिखाई पड़ते हैं, पर उनके नित्यत्त्व पर विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि उनके शरीर के रूप का परिवर्तन तो हो गया, पर आत्मा का नहीं। आत्मा अरूपवान् है, पर नित्य, शाश्वत, अजन्मा, अनादि है। यदि उसका प्रकृति के पदार्थों के साथ संयोग हुआ है तो संयोग ही रूपाकृति के भाव को जन्म देगा।

दूसरी बात यह है कि जिस शरीर को हम नाशवान् कहते हैं और पञ्चतत्त्वों को उसका स्थूल कारण मानते हैं, तो उसके भी मूल पर यदि विचार किया जाय तो उन पञ्चतत्त्वों का मूल सत+रज+तम भी नित्यत्त्व के रूप में परिलक्षित होगा। इसीलिये महर्षि ने 'अदिति' शब्द को ऋग्वेद के मन्त्रार्थ में नित्यरूप में प्रयुक्त किया है। अतः मन्त्र का देवता **'विश्वेदेवा'** हो या **'अदिति'** - यह तो कहा ही जा सकता है कि आप सब मूल के नित्यत्त्व का विचारकर, उसकी लोक-कल्याणार्थ उपयोगिता पर विचार अवश्य करें, जिससे दिव्य भावों व दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव व प्रकटीकरण हो।

प्रस्तुत मन्त्र **'सुत्रामाणं पृथिवीं...'** की सङ्गति व मन्त्रार्थ का चिन्तन अनेकों रूपों में किया जा सकता है। यदि आप चाहें तो वेदशक्ति, शब्दशक्ति, ज्ञानशक्ति व जीवनशक्ति के रूप में सङ्गति कर लें, और चाहें तो स्वशरीर के साथ सङ्गति कर लें। इस मन्त्र की विशेषता यह है कि इस मन्त्र में जिन शब्दों का सम्प्रयोग किया गया है, वे प्रत्येक शक्ति के साथ सङ्गति कर बैठते हैं। आपने कभी चित्रकार द्वारा चित्रित ऐसे चित्रों को देखा हो, जिसमें चित्रकार ने किसी महापुरुष की आकृति को विविध रङ्गों के सौन्दर्य से चित्रित करने का प्रयत्न किया हो। जब कभी आप ऐसे चित्र का अथवा उसकी प्रतिकृति का दर्शन करेंगे तो आपको यह प्रतीत होगा कि इस चित्र में उकेरी गई मनुष्याकृति, मात्र आपको ही देख रही है अन्यों को नहीं। इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में जिस प्रकार का शब्द-संयोजन हुआ है, वह प्रत्येक शब्दशक्ति के साथ उपयुक्त प्रतीत होता है। हम यहाँ इस मन्त्र की चिन्तना में **'दैवीं नावम्'** के रूप में जीवन या शरीररूपी नाव को लक्ष्य बनाकर, इस मन्त्र के अन्दर प्रवेश करने का प्रयत्न करेंगे; जिससे यह ज्ञात हो जाये कि **'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'** धर्म की साधना के लिये अथवा परमात्म-साक्षात्कार की साधना के लिये इस दिव्य-नौका की परम आवश्यकता है।

क्या आपने कभी इस बात पर विचार किया कि परमात्म-कृपा से हमें शरीर रूपी नाव क्यों मिली है ? हमारा जीवन स्वचालित यन्त्र की भाँति चल रहा है। हम प्रत्येक दिन खाते-पीते हैं, दैनिक कृत्य करते हुए सात्त्विक सुख प्राप्त करते हैं, पर कभी यह चिन्तन नहीं करते कि यदि खाने-पीने, सन्तान उत्पन्न करने का सुख ही हमारा ध्येय होता, तो फिर मनुष्य-शरीर प्राप्त करने की क्या आवश्यकता थी ? ये सब कार्य अन्य जीवन में भी हो सकते हैं। संसार का छोटे से छोटा प्राणी हो वा बड़े से बड़ा, क्या वह जीवनोपयोगी खाना-पीना, सन्तान पैदा करना आदि कर्म नहीं करता ? जब बिना किसी तनाव व बोझ के वह सहजता से जीवन व्यतीत कर सकता है, तो फिर मनुष्य जीवन प्राप्त करने की क्या आवश्यकता ?

हमारी विडम्बना यह है कि हमारे कार्यों के साथ न हमारी चिन्तनाशक्ति जुड़ी है और न विशेष लक्ष्य। जबकि वैदिक संस्कृति प्रारम्भ से ही इस बात का सन्देश देती है कि - हे मनुष्य ! तू यह विचार कर कि तू संसार में क्यों आया है ? तेरे कार्य क्या हैं ? तेरा स्वरूप क्या है और तेरा लक्ष्य क्या है ? आप स्मरण करें नामकरण संस्कार में पिता द्वारा उच्चारित मन्त्र **'कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि'** जो प्रश्नवाचक शब्दों के साथ संप्रयुक्त है। कभी आपने उपनिषदों का स्वाध्याय करने का प्रयत्न किया हो तो प्रामाणिक उपनिषदों में एक उपनिषद् का नाम है - **'केनोपनिषद्'**। संस्कृत भाषा का **'केन'** शब्द प्रश्नवाची है, जो इस बात का द्योतक है कि यह मन, वाणी श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अथवा अन्यान्य जड़-चेतन पदार्थ किसकी आज्ञा से अपने-अपने कार्यों में संलग्न हैं ? बस इसी **'केन'** शब्द को आधार बनाकर जिस

समीक्षात्मक ग्रन्थ की संरचना तपस्वी-ऋषियों ने की, उसका नाम **'केनोपनिषद्'** हुआ। ऐसे एक नहीं, अनेकों उद्धरण दिये जा सकते हैं कि जिनके द्वारा संसार के मानवों को यह सन्देश दिया गया है कि- प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने कर्म को प्रारम्भ करने से पूर्व **'क्या-क्यों-कैसे'** प्रश्नों को उत्पन्न कर, उनका उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न करे। उदाहरण के लिये उपनिषद् की निम्न पंक्तियों का अवलोकन करें -

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

(श्वेताश्वर 1/1)

अर्थात् - क्या जगत् का कारण ब्रह्म है ? हम कहाँ से, किससे और क्यों उत्पन्न हुए हैं ? हम क्यों जी रहे हैं? हम किससे संयुक्त हैं और किसमें स्थित हैं ? हम किसकी व्यवस्थित देखरेख में सुख-दुःखरूपी फलों को प्राप्त कर रहे हैं ? क्या ये अनुकूल-प्रतिकूल व्यवस्था हमारे द्वारा संचालित है अथवा हम ब्रह्म की व्यवस्था में अनुबन्धित हैं।

हम यहाँ उपनिषद् के सागर में आपको प्रवेश नहीं करा रहे। हमारा संकेत मात्र इतना ही है कि हमारे समक्ष कोई भी चेतन वा जड़ पदार्थ हो, हम चाहे छोटे-बड़े कर्म को अपने मन-बुद्धि द्वारा करने को तत्पर हों, पर यदि क्या-क्यों-कैसे का प्रत्येक क्रिया से पूर्व विनियोग कर लेंगे, तो जो समाधान आपकी चेतना में अवतरित होगा, वह बाह्य सुख की अपेक्षा लाखों गुणा अधिक आनन्द प्रदान करने वाला होगा। इसी प्रकार यदि **'सुत्रामाणम्...'** मन्त्र पर भी मात्र जीवनरूपी पक्ष को लेकर चेतना शक्ति का हम प्रयोग करें, तो हमें मनुष्य शरीर **'दैवीं नावम्'** दिव्य नाव के रूप में परिलक्षित होगी; अन्यथा ऐसे भी विचार आपको उद्वेलित करेंगे जो - **'को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः'** कहकर इस मनुष्य शरीर को 'नरक' के रूप में उपस्थित कर देंगे। जब आप अपने शरीर को नरक के रूप में देखेंगे तो निश्चित ही नकारात्मकता दिखाई देगी, पर इसके विपरीत जब आप मनुष्य-शरीर को **'दिव्य नौका'** के रूप में देखेंगे तो सकारात्मकता का भाव उत्पन्न होगा। नकारात्मकता पलायनवाद को उत्पन्न करती है और सकारात्मकता उसके सम्यक् उपयोगी भाव को उत्पन्न करती है।

हम सब जब इस बात को जानते हैं कि मानव शरीर सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि शरीर को प्राप्त करके ही धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है तो फिर उस अनन्त यात्रा और लक्ष्य की सिद्धि के लिये सकारात्मक ऊर्जा को उत्पन्न करना, और उसका सम्यक् उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रखा जाये कि यदि उस लक्ष्य को कोई शत्रु बाधित करने का प्रयत्न कर रहा हो अथवा सन्मार्ग की यात्रा में व्यवधान उत्पन्न करता हुआ पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न कर रहा हो, तो हमें ऐसे शत्रुओं से सावधान रहकर उन्हें हटाना भी है, उनका विनाश भी करना है; पर **'चरैवेति-चरैवेति'** का अनुसरण करते हुए न रुकना है, न थकना है, न बैठना है, न पथभ्रष्ट होना है; क्योंकि हमारा प्रमुख उद्देश्य लक्ष्य तक पहुँचना है।

प्रस्तुत मन्त्र **'सुत्रामाणम् ...'** संसार के समस्त मानवों को सावधान करते हुए सन्देश देता है कि – ऐ संसार के लोगो ! संसार एक चिकने तीक्ष्ण पत्थरयुक्त तीव्र जल प्रवाह वाली नदी है, जिसमें अनेकों जीव–जन्तु अपना ग्रास बनाने के लिये लालायित हैं, यदि तुम ऐसी दुस्तर नदी को पार करना चाहते हो, तो तुम्हें **'दैवीं नावम्'** दिव्य नौका पर आरूढ़ हो जाना चाहिये, जिससे तुम इस नौका द्वारा इस दुस्तर नदी को पार कर, आनन्दमय लोक में प्रवेश कर सको। पर ध्यान रहे कि तुम्हारी असावधानी से यदि इस नाव में एक भी न्यूनता का प्रवेश हो गया तो यह नाव पार कराने के स्थान पर, आपको डुबोने का कारण भी बन सकती है। इसलिये सावधानी के साथ नाव पर आरूढ़ होने से पूर्व इस नाव का दस प्रकार से निरीक्षण–परीक्षण कर लो। वह दस प्रकार का निरीक्षण क्या है ? उसके लिये आईये हम वेदमन्त्र में प्रयुक्त शब्दों पर चिन्तन करें, जिससे हमें सावधानी, असावधानी का सम्यक् बोध हो सके। वह निम्न हैं –

(1) सुत्रामाणम् –

इस शब्द का अर्थ है – सम्यक् प्रकार से रक्षा करने योग्य। **'सु'** उपसर्ग के साथ **'त्रैङ् पालने'** धातु से इस शब्द की संरचना की गयी है। **'त्रैङ्'** धातु पालन व रक्षण भाव को प्रकट करती है; परन्तु जब **'सु'** उपसर्ग का सम्प्रयोग किया जाता है तो उसका अभिप्राय है – सम्यक् प्रकार से रक्षा करने योग्य। कारण कि – संसार में जितने भी प्राणधारी जीवों के शरीर हैं, उन सभी में यह विधाता की सर्वोत्तम रचना मानी गयी है; क्योंकि यह मात्र मानव–शरीर ही नहीं, अपितु अष्ट–लोकपालों (अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, वनस्पति, चन्द्रमा, मृत्यु और जल) लोक की रक्षा करनेवाले अधिपतियों का निवास स्थान है। इतना ही नहीं, वेद के अनुसार इस मानव शरीर में सात ऋषि बैठे हुए यज्ञ करने में तत्पर हैं। जैसाकि कहा है –

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ (यजुर्वेद 34/55)

अर्थात् – मनुष्य शरीर में सात ऋषि (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि) बैठे हुए हैं जो इस यज्ञशाला की प्रमादरहित होकर रक्षा कर रहे हैं। जब इनका ज्ञानप्रवाह सुषुप्ति के लोक में लीन हो जाता है, तब भी आत्मचैतन्य और प्राण इस यज्ञशाला की रक्षा करते रहते हैं। इस प्रकार यह यज्ञ जीवन–पर्यन्त चलता रहता है।

जब मानव–शरीर की उपमा वेद भगवान् ने यज्ञशाला के रूप में दी है, तो क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं है कि हम इसको पवित्र रखें और इसकी निरन्तर रक्षा करें। जब हम यज्ञार्थ भौतिक यज्ञशाला, जिसे हमने ईंट पत्थरों के द्वारा निर्मित किया है, उसे हर प्रकार से सुसज्जित और पवित्र रखने का प्रयत्न करते हैं तो फिर मानव–जीवन रूपी यज्ञशाला को पवित्र और सुसज्जित करना हमारा स्वयमेव कर्त्तव्य बन जाता है। क्योंकि **'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा'** गोस्वामीजी के अनुसार यह मोक्ष प्राप्ति के निमित्त सुकर्म करने का एकमात्र साधन है।

मनुष्य शरीर को छोड़कर संसार में जितने भी प्राणीमात्र के शरीर हैं, उनमें भोगों को तो भोगा जा सकता है, पर श्रेष्ठतम कर्म नहीं किया जा सकता। इसीलिये महर्षि मनुजी ने प्रातःकाल में अनिवार्य रूप से जिन कर्मों को करने का निर्देश दिया है, उनमें भी इस बात का सन्देश है कि **'कायक्लेशांश्च तन्मूलान्'** (4/92) कि अपने शरीर को इस प्रकार से रक्षित किया जाय कि वह सदैव क्लेश-कष्ट सन्ताप से मुक्त रहे। यह कार्य तभी हो सकता है, जब इस पर तीक्ष्ण दृष्टि रखी जाय, जिससे इसमें किसी शत्रु का प्रवेश न हो सके। इसके लिये आवश्यक है कि हर क्षण सभी प्रकार से इसकी रक्षा करें।

आज के मनुष्य की दृष्टि इसकी रक्षा पर नहीं रहती, अपितु इस बात पर रहती है कि इससे भोगसुख किस प्रकार से भोगा जाय। वे इस शरीर से स्वेच्छापूर्वक कर्म करना चाहते हैं, पर शरीर के प्रति कोई जिम्मेदारी निभाने को तैयार नहीं हैं। जो मनुष्य इस शरीर की उपेक्षा कर, मात्र विषयभोगों को भोगने में तत्पर है, उनकी मनमानी बहुत समय तक नहीं चलती; आख़िर में एक समय ऐसा भी आता है कि वही भोग, रोगों का प्रवेश भी करा देते हैं। तब हमारा शरीर यज्ञशाला के स्थान पर रोगशाला बन जाता है। मनुष्य के शरीर में जब रोगों का प्रवेश हो जाता है और वह भोगों को भोगते-भोगते स्वयं शारीरिक असमर्थता की स्थिति में पहुँच जाता है, उस स्थिति में पारलौकिक सुख प्राप्त करने की कल्पना स्वप्नवत् ही होगी। इसलिये आवश्यक है कि इस मानव-शरीर की हर प्रकार से रक्षा की जाय। इस मनुष्य-शरीर का इस प्रकार से संरक्षण किया जाय कि इसमें पवित्रता और स्वस्थता दोनों विद्यमान रहें। वेद ने **'शरदः शतम्..'** से लेकर **'त्र्यायुषं जमदग्ने..'** का सन्देश देकर, न्यूनतम सौ वर्ष की आयु से लेकर तीन सौ या चार सौ वर्ष की अधिकतम आयु का सन्देश दिया है, उस आयु को प्राप्त कर, सम्पूर्ण शक्ति श्रेष्ठतम कर्मों के करने में व्यय करें, जिससे यह शरीर मोक्षानन्द की प्राप्ति का सुसाधन बन सके। उसके लिये आवश्यक है कि इस शरीर की आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार से रक्षा की जाय, ताकि जीवात्मारूपी नाविक जिस शरीररूपी नाव में आरूढ़ है, वह इस नाव द्वारा भवसागर पार कर, आनन्दमय लोकरूपी लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सके।

पर इस बात का भी ध्यान रखे कि मात्र इसके संरक्षण पर ही ध्यान न दिया जाय, अपितु इसमें सन्निहित शक्तियों की क्षमताओं व योग्यताओं का भी संवर्द्धन किया जाय। इसलिये वेदभगवान् अगला सन्देश देते हुए कहते हैं -

(2) पृथिवीम् -

सामान्यतः हम पृथिवी शब्द का अर्थ भौतिक पृथ्वी से ही लेते हैं, जिस पर समस्त प्राणी रहते हैं। यदि इसी भाव को थोड़ी देर के लिये स्वीकार कर, हम पृथिवी शब्द को मनुष्य शरीर पर घटित करने का प्रयत्न करें तो क्या हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि जैसे समस्त प्राणियों के जीवन का आधार पृथिवी है, वैसे ही जीवात्मा के जीवन का तथा अष्ट लोकपालों एवं सप्त ऋषियों का आधार यह मनुष्य शरीर है।

बिना मनुष्य शरीर के कोई भी जीवात्मा श्रेष्ठ कर्मों में संयुक्त हो ही नहीं सकता ? इतना ही नहीं, जब हम शास्त्रों में जीवात्मा के सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, ज्ञान-प्रयत्न के रूप में लक्षणों का अवलोकन करते हैं तो क्या जीवात्मा बिना शरीर के सुख-दुःख की अनुभूति कर सकता है ? क्या इच्छा-द्वेष की अनुभूति तथा ज्ञान और प्रयत्न का कार्य करने में समर्थ हो सकता है ? यदि नहीं, तो फिर हमें स्वीकार करना चाहिये कि जैसे जीवात्मा के बिना शरीर का कोई अस्तित्त्व नहीं, वह शव है, घर में रहने योग्य भी नहीं; उसी प्रकार बिना शरीर के जीवात्मा भी न कर्म कर सकता है और न भोगों को भोग सकता है। दोनों चीज़ें एक-दूसरे की पूरक हैं। कहा भी है -

न वि जानामि यदिं वेदमस्मिं निण्यः संनद्धो मनसा चरामि। यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अंश्नुवे भागमस्याः ॥

(ऋ0 1/164/37)

अर्थात् - अल्पज्ञता और अल्पशक्तिमत्ता के कारण साधनरूप इन्द्रियों के बिना जीव सिद्ध करने योग्य वस्तु को नहीं ग्रहण कर सकता। किन्तु जब श्रोत्रादि-इन्द्रियों को प्राप्त होता है, तब जानने के योग्य होता है। जब तक विद्या से सत्य-पदार्थ को नहीं जानता, तब तक अभिमान करता हुआ पशु के समान विचरण करता है।

जब हम यह जानते हैं कि बिना शरीर के जीवात्मा किसी भी प्रकार का कर्म करने में समर्थ नहीं हो सकता, तब क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं है कि इस मनुष्य शरीर की सम्यक् प्रकार से रक्षा की जाय; क्योंकि यही कर्म-भोग का प्रमुख साधन है। इस शरीर की मात्र रक्षा ही न की जाय, अपितु इसमें सन्निहित शक्तियों व क्षमताओं का अधिक से अधिक संवर्द्धन तथा उस संवर्द्धन का सदुपयोग किया जाय। पृथिवी शब्द **'प्रथ विस्तारे'** धातु से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है - विस्तृत। महर्षि यास्कजी ने **'निरुक्त'** नामक ग्रन्थ में **'प्रथनात् पृथिवी प्राहुः'** कहकर विस्तृत होने के कारण से इसे पृथिवी कहा है। **'उणादिकोष'** में **'प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी'** कहकर पृथिवी को वहाँ विस्तार व फैलाव वाला कहा है।

अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में पृथिवी को **'माता'** कहा गया है। 'माता' शब्द **'माङ् माने'** धातु से सम्मान अर्थ में आता है, तब क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं है कि जैसे माता का सम्मान किया जाता है, वैसे ही पृथिवी रूपी आधार शरीर का भी सम्मान किया जाय, इसको परिपुष्ट किया जाय, इसका सम्यक् रक्षण किया जाय। शतपथ ब्राह्मणकार पृथिवी को ज्येष्ठ व प्रथम सृष्टि के रूप में स्वीकार करता है तो क्या मानव-शरीर ज्येष्ठ व श्रेष्ठ नहीं, जो नव्य कर्मों के करने की सृष्टि के सृजन का आधार है। इस भाव से **'सुत्रामाणम्'** शब्द जहाँ मानव शरीर के सम्यक् रक्षण का संकेत देता है, वहाँ **'पृथिवी'** शब्द में इस बात का संकेत सन्निहित है कि इसकी क्षमताओं व योग्यताओं का संवर्द्धन किया जाय। नित्य व्यायाम, प्राणायाम, उचित खानपान एवं ब्रह्मचर्य-साधना से शरीर की बाह्य शक्तियों का जहाँ संवर्द्धन किया जाय, वहाँ यौगिक क्रियाओं द्वारा आन्तरिक क्षमताओं व

योग्यताओं को भी इतना विस्तृत किया जाय कि इसमें ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण देव अधिष्ठित रह सकें। जिस शारीरिक ऊर्जा को विषयों के भोग में अधोद्वारों द्वारा विनष्ट किया जा रहा है, उस ऊर्जा को इस प्रकार से संरक्षित किया जाय कि उसका प्रवहण निरन्तर ऊर्ध्वगति वाला बनकर, पार्थिव लोक से द्युलोक की ओर ले जाने वाला संवाहक बन सके। इसलिये वेद भगवान् अगला सन्देश देते हुए कहते हैं –

(3) द्याम् –

'द्याम्' शब्द का अर्थ है – प्रकाशयुक्त। जब हम इस शब्द की सङ्गति मनुष्य-शरीर के साथ करेंगे तो इसका भाव यह होगा कि प्रत्येक मनुष्य ने अपने शरीर को प्रकाशयुक्त करना है। तब क्या यह प्रश्न नहीं उठता कि इस शरीर को प्रकाशयुक्त कैसे किया जाय ? इस प्रश्न का समाधान जानने से पूर्व ऋग्वेद के मन्त्रांश का भी अवलोकन करें, जो सन्देश देता है – **'आ रोंह सूर्ये अमृतंस्य लोकम्'** (ऋ0 10/85/20) अर्थात् – हम सूर्य के अमृतलोक पर आरोहण करें। यदि इस वाक्य का सामान्य अर्थ ग्रहण किया जाये तो फिर प्रश्न होगा कि – क्या सूर्य में भी अमृत लोक है ? जबकि सूर्य एक ऐसा अग्निपिण्ड है, जिसके समीप आज तक कोई जाने की हिमाक़त नहीं कर सका ? और अपवाद में यदि किसी ने इस प्रकार का दुस्साहस किया तो वह उसके समीप जाने से पूर्व ही विनष्ट हो गया। तब सूर्य के अमृतलोक का आरोहण कैसे होगा ? क्या उसमें भी अमृतलोक है ? यदि है तो उसको किसने और कैसे देखा है ? जिसने देखा है, वह कौन है और उसने कैसे जाना कि सूर्य में भी अमृतलोक है ? बात स्पष्ट यह है कि किसी भी शब्दशक्ति के भाव को तीन प्रकार से जाना जा सकता है, वह है – **अभिधा, लक्षणा** और **व्यञ्जना।** यदि हम सूर्य और अमृतलोक का अर्थ अभिधा शक्ति के आधार पर करेंगे तो भौतिक सूर्य का अवलोकन अवश्य किया जा सकता है, पर अमृतलोक का नहीं। परन्तु यदि इसी को लक्षणा शक्ति के आधार पर जानने का प्रयत्न करेंगे तो फिर सूर्य और अमृतलोक दोनों की सङ्गति लगायी जा सकती है। क्योंकि **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे, यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'** जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। यदि सूर्य ब्रह्माण्ड में है तो पिण्ड में भी सूर्य होना चाहिये, पर ऐसा कहीं दिखायी नहीं देता। याद रखो, सूर्य प्रकाश का प्रतिनिधित्त्व करता और अमृतलोक उस आनन्द का प्रतिनिधित्त्व करता है, जहाँ दुःख की किञ्चित् भी छाया नहीं है।

जीवात्मा अल्पज्ञता के कारण उन कर्मों से संयुक्त हो जाता है, जो उसके जीवन में अविद्यान्धकार को उत्पन्न कर देते हैं। अविद्या ही अन्धकारमय लोक है और इसके विपरीत विद्या ही प्रकाशमय लोक है। तभी तो **'विद्ययाऽमृतंमश्नुते'** (यजु0 40/14) अर्थात् – विद्या से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है। अभिप्राय यह हुआ कि यदि जीवात्मा ने मनुष्य शरीर प्राप्त किया है तो उसका भी कर्त्तव्य है कि वह अपने को ज्ञान-प्रकाश से युक्त करे। क्योंकि ज्ञान का प्रकाश **'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'**

(यो0 2/52) प्रकाश के आवरण को दूर कर देता है। तभी तो वेद में अनेकों ऐसे मन्त्र हैं कि जिनके द्वारा परमात्मा से अथवा विद्वान् से ज्ञान-प्रकाश युक्त होने की प्रार्थना की गयी है। यथा -

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र। येनान्तरिक्षमुर्वा-ततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥

(यजु0 12/48)

अर्थात् - हे विद्वान् जनो ! आप स्वयं अग्नि के समान द्योतनशील आत्मा में विज्ञान प्रकाश से युक्त हैं; जिस विज्ञान प्रकाश के द्वारा आप पृथिवी, औषधि, जल, सूर्य, मेघ, आकाशादि की तेजोमय शक्ति से युक्त होकर विस्तृत ज्ञान-प्रकाश से युक्त हैं, उस विज्ञान प्रकाश को हमें भी धारण कराईये, जिससे हमारा जीवन भी विज्ञान के प्रकाश से युक्त हो सके।

अब प्रश्न यह हुआ कि - ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश को कैसे प्राप्त किया जाय ? तो उसका उत्तर है - योग की सिद्धियों द्वारा। याद रखो, जो मनुष्य इस मनुष्य-शरीर का सदुपयोग करता हुआ अष्टाङ्ग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) के साधनों का सम्यक् परिपालन करता है, उस मनुष्य के अन्दर सूर्य के समान वह प्रकाश उत्पन्न हो जाता है कि वह अविद्या के घोरतम अन्धकार को भी विदीर्ण करने की क्षमता उत्पन्न कर लेता है। तभी तो महर्षि पतञ्जलि जी ने आन्तरिक अशुद्धि का क्षय कर योगमार्ग का अनुसरण करनेवाले साधकों के लिये समस्त लाभों का संकेत देते हुए योग शास्त्र में लिखा है -

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान-दीप्तिराविवेकख्यातेः॥ (यो0 2/28)

अर्थात् - योग के अङ्गों का परिपालन करनेवाले साधक की समस्त अशुद्धियाँ क्षय स्थिति को प्राप्त होकर, ज्ञान व विज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति तथा विवेकख्याति का पूर्णलाभ प्राप्त कराती हैं।

याद रखो, मनुष्य शरीर ही जीवात्मा के पास एक ऐसा साधन है, जिससे आत्मा के मल, विक्षेप, आवरण को योग साधनों द्वारा क्षय कर, ज्ञान प्रकाश से युक्त किया जा सकता है। क्योंकि यह शरीर वेद के अनुसार -

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

(अथर्व0 10/2/31)

अर्थात् - यह शरीर आठ चक्रों और नव द्वारों से युक्त है, इसको युद्ध द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता, इसलिये यह अयोध्या है। उसमें तेजःस्वरूप प्राणों का एकमात्र आश्रय सुखस्वरूप जीवात्मा परमात्म-तेज से आवृत है।

पर विडम्बना यह है कि कुसंस्कारों का आवरण उस तेज को जीवात्मा तक पहुँचने नहीं देता। इसके लिये आवश्यक है कि प्रथम मनुष्य शरीर को परमात्मा की विरासत समझकर इसका सम्यक् संरक्षण करे। इसके अन्दर सुप्त शक्तियों को जागृत कर, उसे ज्ञान-प्रकाश से युक्त किया जाय, ताकि अविद्यान्धकार नष्ट हो सके। उस कार्य के लिये योग-साधना द्वारा मूलाधार चक्र से लेकर सुषुम्णा चक्र तक की सम्पूर्ण शक्ति को ऊर्ध्वमय बनाने का प्रयत्न किया जाये। यह

सुषुम्णा चक्र का जागरण मात्र मनुष्य शरीर में ही सम्भव हो सकता है, अन्य शरीरों में नहीं। इसलिये विद्वानों द्वारा बार-बार यह स्मरण दिलाया जाता है कि जिस मनुष्य शरीर को आपने प्रभुकृपा से प्राप्त किया है, इसके वैशिष्ट्य को पहचानो, इसका सदुपयोग करो, इस दिव्य नाव पर आरूढ़ होकर भवसागर को पार कर, उस आनन्दमय लोक को प्राप्त करो, जहाँ आनन्द ही आनन्द है। इस कार्य के लिये योगमार्ग का अनुगमन कर, ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश को उत्पन्न करो; जिससे अविद्यान्धकार समाप्त हो जाये। प्रकाश का न होना ही अन्धकार है। विद्या का न होना ही अविद्या है। जीवन का न होना ही मृत्यु है। उत्थान का न होना ही पतन है और स्वर्ग को न प्राप्त करना ही नरक है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य का प्रयत्न होना चाहिये कि इस दैवी नाव की विशिष्टता और उसका सदुपयोग कर, भवसागर से पार होने का प्रयत्न करे। पर इस प्रयत्न में इस बात का भी ध्यान रखे, जिसका संकेत इस मन्त्र के अगले शब्द में दिया गया है -

(4) अ॑ने॒हस॑म् -

इस शब्द की संरचना **'नञ्'** अव्यय के साथ **'हन्'** और **'असि'** धातु का प्रयोग करने से हुई है। **'नञ्'** अव्यय निषेधात्मक भाव में प्रयुक्त होता है और **'हन्'** धातु **'हिंसागत्योः'** अर्थात् हनन, गमन एवं प्राप्त्यर्थ में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार **'अनेहस्'** शब्द अहिंसक भाव या प्राप्त्यर्थ को द्योतित करता है। इस बात से सभी परिचित हैं कि हिंसा का मूल 'क्रोध' है। जब मनुष्य के अन्तस्तल में क्रोध का अतिरेक होता है तो उसकी परिणिति हिंसा के रूप में प्रकट होती है। क्या हम सब यह नहीं जानते कि नाव चलानेवाला यदि क्रोधयुक्त हो तो वह नदी पार कराने के स्थान पर उस नाव को डुबो भी सकता है। उसका शान्त होना और धैर्यशाली होना परम आवश्यक है। विपरीत परिस्थितियों में क्रोध से कार्य नहीं चलता, अपितु शान्ति-धैर्य और विवेक ही उन विपरीत परिस्थितियों से जूझने व निकलने का रास्ता बनाता है। इस आधार पर जब मनुष्य दैवीनाव पर आरोहण कर, भवसागर पार करने का प्रयत्न कर रहा हो, तो रक्षण, शक्ति संरक्षण, दिव्य प्रकाश का जागरण के कार्य में प्रवृत्त होना आवश्यक है, वहाँ मनुष्य का कर्त्तव्य यह भी कि यदि कभी विपरीत परिस्थितियों से मुकाबला करने का समय आ भी जाये, तो शान्ति-धैर्य व विवेक से अपनी नाव को आगे बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील हो, अन्यथा क्रोध, चेतना और विवेक को नष्ट कर, पार होने के स्थान पर डुबोने का कारण अवश्य बन जायेगा।

'अनेहस्' शब्द **समय** या **काल** अर्थ को भी द्योतित करता है। मनुष्य शरीर प्राप्त करनेवाले जीवात्मा का कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक समय का सदुपयोग करे। कोई भी मनुष्य एक दिन में महान् नहीं बनता, अपितु वह अपने जीवन का एक-एक क्षण शुभ कार्य में लगाता हुआ महान् बनता है। जब हम यह जानते हैं कि **'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'** मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कोई शरीर नहीं है, तो फिर

इसकी प्राप्ति का सदुपयोग क्यों न किया जाय ? मनुष्य की औसतन आयु सौ वर्ष मानी गयी है, उसमें भी आधा समय सोने में तथा शेष समय शैशव-यौवन और वार्धक्य में चला जाता है। जैसाकि भर्तृहरिजी ने लिखा है -

आयु वर्ष शतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धंगतं।
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्त्ववृद्धत्त्वयोः।
शेष व्याधिवियोग दुःख सहितं सेवादिभिर्नीयते।
जीवेवारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यंकृतः प्राणिनाम्॥

(वै0 श0-88)

अर्थात् - पहले तो आयु ही सौ वर्ष ठहरी। उसका आधा 50 वर्ष रात्रि में व्यतीत हो गयी। आधे का आधा अर्थात् 25 वर्ष बाल्यावस्था में निकल गये। शेष जो 25 वर्ष रहे, वह दुःख-रोग-वियोग में निकल गये। मनुष्य को सुख कहाँ मिला? क्योंकि जीवन तो चञ्चल तरङ्ग की भाँति है।

अब आप कल्पना कीजिये कि लक्ष्य प्राप्ति के लिये कितना समय शेष रहा ? यदि उस काल में भी आलस्य-प्रमादवश समय का सदुपयोग न कर सके, तो हम भवसागर कैसे पार कर सकेंगे ? सामान्यतः संसार में मनुष्य समय के मूल्य को नहीं समझता। अपवाद में ही कोई मनुष्य होगा जो समय का मूल्य समझकर उसका सदुपयोग करता हो, अन्यथा **"Time is Money"** कहने-सुनने वाले बहुत मिल जायेंगे, पर उचित समय को पहचानने वाला और उसका सदुपयोग करने वाला अपवाद में ही कोई मिल सकेगा।

कहते हैं कि एक व्यक्ति ने एक चित्रशाला में प्रवेश किया। वह चित्रों को देखते हुए आगे बढ़ता ही जा रहा था कि अचानक एक चित्र के सामने उसके कदम रुक गये और उसने उस चित्र को देखकर बहुत विचार किया कि ये चित्र किस जन्तु का है ? चित्र एक मनुष्य का प्रतीत होता था, पर उसके चेहरे के सामने बाल थे, पीछे से गंजा था, पैरों में पंख लगे हुए थे। ऐसा मनुष्य इस व्यक्ति ने न कहीं देखा और न कभी सुना। जिज्ञासा अधिक बढ़ी तो यह व्यक्ति उस चित्रकार के पास गया था जो किसी अन्य चित्र को बनाने में संलग्न था। इस व्यक्ति ने उस चित्रकार के पास जाकर उस चित्र की ओर इशारा करके पूछ लिया कि - 'यह चित्र किसका है ? ऐसा प्राणी आपने कहाँ देखा है ? यदि यह प्राणी पृथिवी के किसी भाग में है तो किस देश में है ?' चित्रकार ने इस दर्शक की बात को सुना और मुस्कराकर उत्तर देते हुए कहा- 'बन्धु ! यह चित्र किसी प्राणी का नहीं अपितु समय का चित्र है। जब यह किसी के सामने अवसर बनकर आता है तो हर व्यक्ति इसे पहचान नहीं पाता। इसके पैरों में पंख इसलिये हैं कि जब यह चला जाता है तो कोई इसको पकड़ नहीं सकता। जो समय गया, सो गया। आप किसी भी तीव्र से तीव्र गतिवाले वाहन पर सवार हो जायें, पर इसको पकड़ नहीं सकते।'

जब समय इतना मूल्यवान है तो जो जीवात्मा शरीररूपी दिव्यनाव पर आरूढ़ होकर भवसागर पार करने की आकांक्षा हृदय में संजोये रखता है, तो क्या उसका कर्त्तव्य नहीं है कि वह समय का सदुपयोग करे ? समय कभी-कभी ऐसे दिव्य अवसर के रूप में आता

है कि यदि वह अवसर खो दिया, तो यह आवश्यक नहीं कि दोबारा वह अवसर लौटकर आये। इसलिये विद्वानों द्वारा बार-बार जाग्रत करते हुए कहा जाता है कि - मनुष्य शरीर बड़े पुण्य कर्मों से मिलता है। इसका सदुपयोग करो, श्रेष्ठ कर्मों के करने में अपनी शक्ति व्यय करो; क्योंकि यह शरीर प्रभुकृपा से आपको प्रसादरूप में प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार **'अनेहसम्'** शब्द प्रत्येक मनुष्य को दो प्रकार का सन्देश देता है। प्रथम यह कि समय का सदुपयोग करो और दूसरा यह है कि अपनी जीवन की यात्रा को शान्ति-धैर्य व विवेक से चलाओ। जो नाविक समय पहचानने की क्षमता रखता है, उसे कहाँ किस तरह और किस ओर नाव को चलाना है, इस प्रकार का निर्णय करने वाला विपरीत परिस्थितियों में भी नाव चलाने में समर्थ होता है। ऐसे ही जो मनुष्यशरीर रूपी नाव द्वारा भवसागर को पार करने के लिये सतत प्रयत्न करता, वही लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा; क्योंकि वह जानता है कि इस आश्रय के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रय नहीं है। इसीलिये वेद भगवान् अगला सन्देश देते हुए कहते हैं -

(5) सुशर्माणम् -

इस शब्द में **'सु'** उपसर्ग का प्रयोग **'प्रकृष्ट'** अर्थ को प्रकट करता है तो **'शर्माणम्'** शब्द **'आश्रय'** अर्थ को; जिसमें सुख-शान्ति व आनन्द को प्राप्त किया जा सकता है। जैसे ऑफिस या व्यापारार्थ कृत्य को करने वाला मनुष्य जब सायंकाल को अपने घर में पहुँचता है, तो वह घर में जाकर सुख-शान्ति की अनुभूति करता है, क्योंकि वह घर उसकी आश्रय-स्थली है। इसी प्रकार जो मनुष्य इस मनुष्य-शरीर को सुख-शान्ति व मोक्ष का आधार मानकर, लक्ष्य प्राप्ति के लिये इसका उपयोग करता है, वह आनन्दलोक को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

जब मनुष्य शरीर की विशेषता पर विचार करके कोई मनुष्य इसका सदुपयोग करता है, तो वह इस शरीर को इहलौकिक और पारलौकिक सुखों को प्राप्त करने का साधन मानता है। कभी आप अपनी तर्कणाशक्ति को संसार के समस्त प्राणियों के मध्य ले जाकर खड़ा करें और प्रत्येक के शरीर-कार्य व लक्ष्य को देखने का प्रयत्न करें तो आप उस विधाता को बिना नमन किये रह नहीं सकते, जिसकी कृपा से यह मनुष्य शरीर की प्राप्ति हुई है। मनुष्य शरीर को छोड़कर अन्य शरीरों द्वारा भोगों को भोगा जा सकता है, पर कोई नया कर्म नहीं किया जा सकता। मनुष्य-शरीर ही एकमात्र ऐसा साधन है कि जिसके द्वारा हम उन सुख-सुविधाओं का अर्जन करते हैं जिसको जीवन के लिये परमावश्यक समझते हैं। जिस प्रकार भौतिक उन्नति व संसाधनों का अन्वेषण कर हम सुख प्राप्त कर सकते हैं, वैसा अन्य प्राणी मिलकर भी नहीं कर सकते। मनुष्य भौतिक सुखों को छोड़कर जब पारलौकिक कर्मों के प्रति प्रयत्नशील होता है, तो वह योग सिद्धियाँ भी इसी शरीर के द्वारा प्राप्त करने में समर्थ होता है। जब हम और आप इस

आश्रय-स्थली के रूप में मनुष्य शरीर की सत्ता-महत्ता का अनुभव करेंगे तो मनुष्य शरीर ही जीवात्मा का श्रेष्ठतम आश्रय तथा श्रेष्ठतम गृह (घर) के रूप में दिखाई देगा। जैसे घर के आश्रय को प्राप्त कर प्रत्येक प्राणी सुखानन्द की अनुभूति करता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी शरीररूपी घर का आश्रय प्राप्त कर सुख की अनुभूति करता है। वही सौभाग्यशाली जीवात्मा है, जिसने मनुष्य शरीर प्राप्त किया है। यह वह आश्रयस्थली है जिसमें सुख-शान्ति की अनुभूति करते हुए मनुष्य पारलौकिक उन्नति के लिये प्रयत्नवान् हो सकता है। इसलिये इसके संरक्षण का इस प्रकार से कार्य करना चाहिये कि यह दिव्य नौका किसी प्रकार से खण्डित न होकर लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ हो सके। इसलिये वेद भगवान् पुनः सन्देश देते हुए कहते हैं -

(6) अदितिम् -

यह शब्द **'दो अवखण्डने'** धातु के साथ **'क्तिन्'** प्रत्यय का प्रयोग करने से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है - **अखण्डित,** अर्थात् नष्ट न होने योग्य। वेद भगवान् का दिव्य-नाव के साथ **'अदिति'** शब्द को संयुक्त करने का प्रयोजन यही है कि इस शरीररूपी नाव को अखण्डित बनाया जाय। परमपिता परमात्मा ने जब इसे **'अयोध्या'** अथवा **'दिव्य-नाव'** के रूप निर्मित किया है तो उस नाव का क्या लाभ, जो खण्डित हो जाय ? उस अयोध्या का क्या लाभ, जिस पर कोई भी प्राणी विजय प्राप्त कर ले। अरे ! अयोध्या तो वह है जिसको कोई जीत न सके। यदि मनुष्य-शरीर की अखण्डता पर विचार किया जाय तो परमात्मा ने मनुष्य शरीर में रहने वाले जीवात्मा को वह शक्तियाँ दी हैं, जो किसी अन्य प्राणी के पास नहीं हैं। यदि मनुष्य शरीर में रहने वाला आत्मा शरीररूपी घर की अखण्डिता-शक्ति को ध्यान में रखकर इसकी परिपुष्टि व स्वस्थता का ध्यान रखे तो ऐसी अखण्डिता संसार का अन्य कोई प्राणी प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि सजगता से इसकी अखण्डिता का संरक्षण करें ताकि कोई अन्य प्राणी या आन्तरिक शत्रु इसको किसी भी प्रकार से विनष्ट न कर सके।

'अदिति' शब्द का दूसरा अर्थ है - **'वाणी'**। परमपिता परमात्मा ने मनुष्य शरीर में जिस प्रकार का वाणी का यन्त्र लगाया है, ऐसा यन्त्र किसी अन्य प्राणी के शरीर में दिखायी नहीं देगा। वाणी का गोलक, जिह्वा, ओष्ठादि साधन तो उनके शरीर में भी विद्यमान होते हैं, पर जो क्षमता अभिव्यक्ति की मनुष्य शरीर में विद्यमान है, ऐसी क्षमता किसी अन्य प्राणियों में नहीं। आप अपने छोटे से छोटे भाव की अभिव्यक्ति वर्णों वा ध्वनियों द्वारा कर सकते हैं, ऐसी सहजतापूर्वक अभिव्यक्ति अन्य प्राणियों में किञ्चित् भी नहीं है। जब प्रभुकृपा से आपको ऐसा साधन मिला है तो उसका सदुपयोग कर, उसका संरक्षण इस प्रकार किया जाय , जो कभी भी विनाश का कारण न बन सके। जो लोग वाणी का संयम करना नहीं जानते, वो इसका दुरुपयोग कर, स्वयं तो नष्ट होते ही हैं, अपितु औरों को भी नष्ट करने का कारण बनते हैं।

'अदिति' शब्द का तीसरा अर्थ है – अदीन रहना। महर्षि यास्क **'अदितिरदीना'** (नि0 4/27) कहकर अदिति शब्द के अर्थ को अदीन माना है। अदीन का अभिप्राय है – दीनता से रहित। दीनता की अवस्था कमजोरी और असहायता को प्रकट करती है, जबकि अदीनता स्वस्थता व सशक्तभाव को प्रकट करती है। तभी तो जब हम प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ के मन्त्रों द्वारा परमात्मा से प्रार्थना करते हुए **'अदी॑नाः स्याम श॒रद॑ः श॒तम्'** (यजु0 36/24) कहकर अपनी सम्पूर्ण आयु अदीन रहने की प्रार्थना करते हैं। दीनता पराधीनता का बोधन कराती है, जबकि अदीनता स्वातन्त्र्यभाव का परिचायक है। दीनता दूसरे के अवलम्बन का बोधन कराती है, जबकि अदीनता स्वावलम्बन शक्ति को परिपुष्ट करती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमारी मनुष्य-शरीररूपी नाव स्वाधीन बनकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़े। इसमें किसी भी प्रकार की पराधीनता व पराश्रय का किञ्चित् भी अवलम्बन न हो; क्योंकि **'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'** पराधीनता में आवश्यक नहीं कि आप लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

पराधीनता आपको लक्ष्य से भटका सकती है। इसलिये जब मनुष्य-शरीररूपी नाव में **अदिति** विशेषण द्वारा इस नाव के वैशिष्ट्य को जानने की ओर दृष्टि डालें, तो उस मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह इसको इतना सशक्त व स्वस्थ बनाये कि यह मार्ग में आने वाले झंझावातों से खण्डित न हो, अपितु अखण्डित होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सके।

मनष्य को सदैव इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि उसे अदिति अर्थात् वाणी के रूप में जो शक्ति प्राप्त हुई है, उसका दुरुपयोग न कर, सदैव स्वाश्रित रहने का प्रयास करे। क्योंकि जब पराश्रय द्वारा स्वप्नकाल में भी सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता तो जाग्रतकाल में उससे क्या कल्पना की जा सकती है ? सारांश यह कि दिव्य नाव को इतना स्वस्थ एव सशक्त बनाया जाय कि यह लक्ष्य तक पहुँचने में पूर्णतः सक्षम हो सके। रोग-शोक-भय, किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न कर सकें, अन्यथा नाव कभी भी लक्ष्य प्राप्त न कर सकेगी। उसके लिये यह भी ध्यान रखें कि –

(7) सु॒प्रणी॑तिम् –

यह शब्द **'सु'** और **'प्र'** उपसर्ग के साथ **'नी'** धातु के **'क्तिन्'** प्रत्यय का प्रयोग से बना है। जिसका अर्थ है – सुन्दर प्रबन्ध, व्यवहार या प्रकृष्ट बुद्धिमत्ता। **'सु'** उपसर्ग जहाँ सौन्दर्यभाव को प्रकट करता है, वहाँ **'प्र'** उपसर्ग प्रकृष्टता या अतिशयताभाव को द्योतित करता है। तब **'सुप्रणीतिम्'** शब्द का अर्थ हुआ – अतिशयतापूर्वक आगे बढ़नेवाली, अर्थात् अच्छे प्रकार बनी हुई। अभिप्राय यह है कि जिस शरीररूपी नाव पर जीवात्मा ने आरोहण कर, लक्ष्य को प्राप्त करना है, विधाता ने उसकी विशिष्ट प्रकार से रचना की है, ऐसी विशिष्ट नाव का संरक्षण नाविक को अच्छी प्रकार से बुद्धिमत्तापूर्वक करना है। नाविक में बुद्धि चातुर्य का कौशल इतनी प्रकृष्टता से संयुक्त हो कि वह प्रत्येक परिस्थिति में लक्ष्य

की ओर आगे ले जाने वाला हो। जब किसी भी कार्य का परिणाम अच्छा होता है तो संसार में कौन होगा जिसको वह सुखद न लगता हो ? सुन्दर परिणाम उत्साह का संवर्द्धन करने का ही मात्र कारक नहीं बनता, अपितु मन-बुद्धि और आत्मिक बल के संवर्द्धन का भी कारक बनता है। इसलिये प्रत्येक नाविक का कर्त्तव्य है कि दिव्य नाव को चतुरता के साथ लक्ष्य की ओर आगे बढ़ाया जाय। क्योंकि नदी के जलप्रवाह की तीव्रता, उसमें उपस्थित हिमखण्ड व प्रस्तरखण्ड, उसमें बार-बार उठनेवाली उत्ताल तरंगें जहाँ नाव को लक्ष्य से भटकाने के लिये प्रयत्नशील हैं, वहाँ कितने बाह्य व आन्तरिक शत्रु हैं जो उस नाव को डुबोने के लिये लालायित हैं। विषम परिस्थितियों में नाव चलाना आसान नहीं। विपरीत परिस्थितियों में नाव को वही नाविक चलाने में समर्थ होगा, जिसमें बुद्धि-विवेक-धैर्य एवं चातुर्य का गुण विद्यमान हो। पर ध्यान रहे कि इस दिव्यनाव के ओराहण में उन साधनों का सम्यक् प्रयोग किया जाय, जो नाव को गति देने में सहायक बन सकें। इसलिये वेदमन्त्र पुनः सन्देश देता है -

(8) स्वरि॒त्राम् -

इस शब्द की संरचना **सु+अरित्र** - इन दो शब्दों के योग से हुई है। **'सु'** उपसर्ग **'सुन्दरता** एवं **उत्कृष्टता'** का द्योतक है और **'अरित्र'** शब्द **'पतवार'** का। जब हम शरीर को दिव्य-नाव के रूप में स्वीकार करेंगे तो नाव का साधन पतवार अवश्य होना चाहिये। यदि नाविक के पास पतवार न हो तो नाविक मनोनुकूल दिशा में नाव को मोड़ने में और गति देने में असमर्थ होगा। परमपिता परमात्मा ने यदि मनुष्य को शरीररूपी नाव दी है तो मनोनुकूल गति देने के लिये पतवार के रूप में दो हाथ भी दिये हैं, जिन्हें हस्त या कर कहा जाता है। हस्त शब्द हाथ या अधिकार का द्योतक है तो 'कर' शब्द कर्म करने का। प्रत्येक कार्य की परिणिति हाथों के सहयोग के बिना सम्भव नहीं; इसलिये **'कर'** शब्द **'कृ'** धातु **'करने'** के भाव को अभिव्यक्त करता है। अर्थात् कररूपी साधनों द्वारा सुख प्राप्त्यर्थ जो कुछ भी कर्म करना है, वह साधन 'कर या हाथ' है। 'कर' शब्द जहाँ शक्ति व क्रिया के भाव को प्रकट करता है, वहाँ वह प्रकाश का भी द्योतक है।

अभिप्राय यह हुआ कि इन कररूपी पतवारों के द्वारा मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपनी क्रिया से नाव को इस प्रकार चलाये, जिससे वह लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ हो। जैसे पतवार के बिना नाव का कोई विशेष मूल्य नहीं, उसी प्रकार हस्त या कर के बिना मनुष्य शरीर का भी मूल्य निःशेष जैसा प्रतीत होता है। कल्पना कीजिये कि यदि विधाता ने हाथ न दिये होते, तो हम अपने जीवन के कार्यों को कैसे करते ? कभी आप उस मनुष्य की क्रिया को देखें, जिसने किसी दुर्घटना में दोनों हाथों को गंवा दिया हो। जब आप उस मनुष्य के खाने-पीने वा अन्य कार्यों को करने की क्रियाओं पर दृष्टि डालेंगे, तो आपका मन सिहर उठेगा, अन्दर से परमात्मा का धन्यवाद करने की इच्छा होगी। उस समय प्रतीत होगा कि जैसे

नाव के साथ पतवार का होना अत्यावश्यक है, वैसे ही मनुष्य-शरीर में हाथों का होना भी अत्यावश्यक है; क्योंकि बिना हाथ के आप किसी भी भौतिक क्रिया को हस्तगत नहीं कर सकते। इसलिये जब आपकी दृष्टि दोनों हाथों की ओर जाय तो उस प्रभु का धन्यवाद कीजिये कि परमात्मा ने कर=हाथ के रूप में जो साधन दिया है, वह अत्यन्त मूल्यवान् है।

परन्तु इससे भी अधिक विचारणीय बात यह है कि परमात्म-कृपा से साधन के रूप में कर्म करने के लिये हाथ मिल गये, पर कोई आलसी बनकर कर्म करने का प्रयास ही न करे और यदि करे तो उलटा कर्म करे, तो उसका परिणाम क्या होगा ? जैसे नाव चलाने वाले के हाथ में पतवार हो, पर वह उनका उपयोग नहीं करता; यदि करता है तो विपरीत रूप में, तब क्या वह नाव को लक्ष्य की ओर बढ़ाने में समर्थ हो पायेगा ? यदि नहीं.., तब आपका भी कर्त्तव्य बनता है कि आलस्य त्यागकर इन हाथों से हम लक्ष्य पर बढ़ने के लिये कर्म करें। पर वह कर्म **'सु'** सुन्दर हो। श्रेष्ठ हो, लक्ष्य की ओर बढ़ाने वाला हो, गति प्रदान करने वाला हो, प्रगति का साधक हो। इसलिये **'अरित्र'** शब्द के साथ **'सु'** उपसर्ग को जोड़कर **'स्वरित्र'** या **'स्वरित्राम्'** शब्द का प्रयोग इसी भाव का द्योतक है कि जीवात्मारूपी नाविक की शरीर रूपी नाव में हाथरूपी पतवारों का सुन्दर प्रकार से उपयोग किया जाय; अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म किया जाय। तभी तो वेदभगवान् **'श्रेष्ठतमाय॒ कर्मण॒ा'** (यजु0 1/1) श्रेष्ठतम कर्मों के करने का सन्देश देते हुए प्रेरणा देते हैं - **'सखा॑य॒: क्रतु॑मिच्छत:'** (ऋ0 8/70/13) हे लोगो ! तुम सदैव कर्म में संलग्न रहो, क्योंकि तुम्हारे हाथों द्वारा किया गया पुरुषार्थयुक्त श्रेष्ठ कर्म **'उत्क्रा॑म महॄते सौभ॑गा॒य'** (यजु0 11/21) आपके सौभाग्य का कारक बनेगा।

अतः नाव को लक्ष्य की ओर ले जाने के लिये दोनों हाथों से शुभ कर्म करना मनुष्य का स्वयमेव कर्त्तव्य है। पर ध्यान यह रहे कि उन कर्मों में किसी भी प्रकार से ऐसा कर्म न किया जाय, जो गति में अवरोधक बनकर प्रगति का हनन करने वाला हो। इसलिये वेद भगवान् इसका संकेत देते हुए कहते हैं -

(9) अना॑गसम् -

हे मनुष्य ! आपका किया हुआ कर्म निर्दोष होना चाहिये। **'अनागसम्'** शब्द में प्रमुख शब्द है - **'आगसम्'**। आगसम् प्रत्ययान्त शब्द **'आगस्'** शब्द का रूपान्तर है। आगस् का अर्थ है - **दोष, अपराध।** परन्तु जब नञ् भाव में **'अन्'** शब्द का प्रयोग किया जाता है तो **'अनागसम्'** शब्द बना; जिसका अर्थ हुआ - **दोष या अपराधरहित।** यह बात निश्चित है कि जीवात्मा अल्पज्ञ है और अल्पज्ञता के कारण वह अनेकों ऐसे कर्म कर बैठता है, जो उसे नहीं करने चाहिये। पर क्या इसको यह मान लिया जाय कि यह उसका स्वभाव है ? शास्त्र कहेंगे - नहीं..। क्योंकि अल्पज्ञता के दोष को पुरुषार्थ व अनुकरणात्मक प्रवृत्ति से बहुज्ञता में परिवर्तित किया जा सकता है। मनुष्य जब कर्म करता है तो वह वही कर्म

करता है जिसको उसकी बुद्धि निश्चय कर चुकी होती है। यदि यह मान लिया जाय कि उसकी बुद्धि में भ्रम की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है, तब उस कर्मशील-मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपने भ्रम को दूर कर, निश्चयात्मक स्थिति प्राप्त करने के लिये उन लोगों का अनुकरण करे, जो महानता के सोपानों पर चढ़कर महान् बने हैं। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण जी का सन्देश है - **'यद्यादाचरति श्रेष्ठस्तत्त-देवेतरो जनः'** (गी0 3/21) जैसा महान् पुरुष आचरण करते हैं, वैसे ही कर्मों का अनुकरण प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये, तभी उसका कर्म निर्दोष हो सकता है।

यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि उस अनुकरणात्मक वृत्ति में भी सन्देहात्मक स्थिति उत्पन्न हो सकती है, तब उस स्थिति में फिर कर्म को निर्दोष कैसे बनाया जाय ? उसका समाधान यह है कि आप अन्तःकरण में व्यापक परमात्मा का आश्रय प्राप्त कर, अपने सन्देह का निवारण करो। मनुजी ने सत्य का निर्णय करने के लिये **श्रुति, स्मृति, महान् पुरुषों के आचरण** के साथ **आत्मस्वीकृति** द्वारा निर्णयपूर्वक कार्य करने की जो सम्मति दी है, वहाँ आत्मस्वीकृति का अर्थ स्वात्मा नहीं है, अपितु अन्तरात्मा में व्यापक परमात्मा की स्वीकृति है। तभी तो महर्षि लिखते हैं - जब जीवात्मा अन्तःकरण में व्यापक परमात्मा की प्रेरणा को प्राप्त करके कर्म करता है तो वह कर्म श्रेष्ठ होता है, दोषरहित होता है। क्योंकि जिस कार्य में भय, शङ्का, लज्जा उत्पन्न हो, वह कार्य सदोष है, और जिस कार्य में उत्साह, प्रसन्नता, आनन्द की अनुभूति हो, वह कार्य निर्दोष है। दोष व निर्दोष भावों की प्रेरणा वही मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो अपनी आत्मा को परमात्मा के समीप ले जाने का प्रयत्न करता है।

प्रायः मनुष्य अपनी वृत्ति अन्दर की ओर नहीं मोड़ता। वह बाह्य विषयवृत्ति द्वारा कार्य करने का प्रयत्न करता है। बाहर की विषयात्मक भीड़ अपराधयुक्त कर्मों की ओर प्रेरित करती है; पर जो मनुष्य अपनी वृत्ति आन्तरिक करके परमात्मा के समीप जाकर, उससे अपने सन्देह का निवारण करता है, ऐसे मनुष्य का कर्म अपराधरहित अर्थात् निर्दोष होता है। इसलिये वेद भगवान् ने यहाँ सन्देश दिया है कि - मनुष्य-शरीररूपी नाव में जब जीवात्मारूपी नाविक सवार होकर हाथरूपी पतवार से लक्ष्य प्राप्ति निमित्त अपनी पुरुषार्थमयी क्रिया को करता है, तो निश्चित ही वह लक्ष्य की ओर बढ़ने में समर्थ होगा।

हाँ, उस नाविक को पुरुषार्थमयी क्रिया के साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि वह जिस नाव में बैठकर पुरुषार्थमयी क्रिया में तत्पर है, कहीं उस नाव में किसी प्रकार का कोई दोष तो नहीं ? क्योंकि नाविक अच्छा हो, पतवार अच्छी हो, नाविक की पुरुषार्थमयी वृत्ति भी श्रेष्ठ हो, लक्ष्य प्राप्त करने की तीव्र लगन भी हो, पर यदि उसकी नाव में किसी भी प्रकार का दोष वा छिद्र हो तो नाव उसे लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकती। इसलिये वेद भगवान् ने अन्तिम सन्देश दिया है -

(10) अस्रवन्ती –

इस शब्द का अर्थ है – न रिसने वाली, न टपकने वाली अर्थात् बिना छिद्र वाली। इस शब्द में **'अ'** वर्ण निषेधात्मक उपसर्ग के रूप में प्रयुक्त हुआ है, और **'स्रवन्ती'** शब्द **'सु प्रस्रवणे'** धातु से सिद्ध होकर – टपकना, रिसना, बहना भाव में प्रयुक्त हुआ है। वेदभगवान् 'स्रवन्ती' से पूर्व 'अ' उपसर्ग का प्रयोग कर संसार के मनुष्यों को सन्देश देते हैं कि तुम्हारी शरीररूपी नाव में किसी प्रकार का रिसाव न हो। यदि कहीं थोड़ी भी न्यूनता होगी तो तुम्हारी नाव में नदी का जल भरने लगेगा और नाव बीच जलधारा में ही डूब जायेगी।

यहाँ **'अस्रवन्तीम्'** शब्द को दो भावों में ग्रहण किया जा सकता है। प्रथम यह कि – जिस जीवात्मा ने शरीर की परिपुष्टता में संयम व ब्रह्मचर्य की साधना नहीं की, ऐसी वीर्यहीन-ओज-तेज-बलहीन जीवात्मा शरीररूपी नाव द्वारा लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

हमारे देश में कभी एक समय था कि हमारी भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य-साधना की शिक्षा बाल्यकाल से ही दी जाती थी, और शारीरिक शक्ति का संचय करने के लिये ब्रह्मचर्य-साधना पर विशेष बल दिया जाता था। क्योंकि वेद का सन्देश है –

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरा भरत्॥

(अथर्व0 11/5/19)

अर्थात् – ज्ञानी पुरुष ब्रह्मचर्य के बल से मृत्यु का हनन करते हैं। ब्रह्मचर्य-साधना द्वारा ही आत्मा परमात्मा के तेज व बल को प्राप्त करके देवत्त्व की स्थिति को प्राप्त करता है।

पर वर्त्तमान समय पर यदि हम दृष्टि डालें तो ब्रह्मचर्य साधना की बात स्वप्नवत् प्रतीत होती है। बाल्यकाल में ही बालकों के हाथों में मोबाइल फोन का आ जाना और उसके द्वारा फेसबुक या अन्य किसी ऐप के माध्यम से उन बालकों की आँखों में कामुकतापूर्ण दृश्यों की छवि अंकित हो जाना, उसके मन-मस्तिष्क में वासना का पूरी तरह से घर कर जाना; उसका परिणाम यह होता है कि उस बालक की प्रवृत्ति कामुकता व भोग की ओर बढ़ने लगती है। क्या ऐसे बालकों की शरीररूपी नाव बड़े होने पर बिना छिद्रवाली रह पायेगी ? असम्भव.. असम्भव.. असम्भव..। क्योंकि जिसने अपने शरीर को सजावट-दिखावट और भोग के साथ बचपन से ही जोड़ दिया, उसका जीवन भोगों को भोगते-भोगते खोखला हो जाता है। आर्यजगत् के प्रसिद्ध भजनोपदेशक चौधरी तेजसिंहजी ने एक बार अपने गीतों में असंयमी लोगों पर टिप्पणी करते हुए लिखा था –

तेल लगाना बुरा नहीं, बल बढ़ता तेल लगाने से।
अन्दर ही जब तेल नहीं, क्या होगा तेल लगाने से॥

बात स्पष्ट है कि भोगों में खोखली हो चुकी कमजोर शरीररूपी नाव, जो जीर्णत्त्व की स्थिति को प्राप्त कर चुकी है, ऐसी नाव कभी भी लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकती, उसका भवसागर में डूब जाना ही निश्चित है।

यदि आप चाहते हैं कि हमारी नाव न डूबे और हमें लक्ष्य तक बिना किसी रुकावट के

पहुँचा दे, तो आपको इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि शरीररूपी नाव सशक्त व अछिद्र वाली होनी चाहिये।

'अस्त्रवन्तीम्' का दूसरा अर्थ है कि – नाव और नाविक के लक्ष्य का एक होना। यहाँ आप कह सकते हैं कि नाविक का तो लक्ष्य माना जा सकता है, पर नाव के लक्ष्य से आपका क्या तात्पर्य है ? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि लक्ष्य प्राप्त करनेवाली नाव की अग्रिम बनावट भी इस प्रकार की हो कि वह जलधारा को चीरती हुई आगे बढ़ सके।

कभी आप नाव की आकृति को देखें तो नाव की संरचना आगे से नुकीली स्थिति वाली दिखाई देगी। पृष्ठभाग को चाहे आप मनोनुकूल चौड़ाई दे दें, पर नाव का अग्रिम भाग नुकीला ही बनाना पड़ेगा। जिन नाविक को नाव शीघ्र आगे-पीछे करने की आवश्यकता होती है, उसकी नाव दोनों दिशाओं में नुकीली अवश्य होगी। सिद्धान्त यह है कि आगे वाला भाग नुकीला ही होना चाहिये। इसी प्रकार संसाररूपी नदी के तीव्र जलप्रवाह में चलने वाली नाव भी साधना या भक्तिरूपी नोंक वाली हो, जो विषयासक्ति के जलप्रवाह को चीरने में सक्षम हो, अन्यथा वह क्षतिग्रस्त होकर नष्ट हो जायेगी।

इसीलिये जहाँ आत्मारूपी नाविक का लक्ष्य एकाग्रता की निश्चित स्थिति युक्त हो, वहाँ शरीररूपी नाव की स्थिति भी परम ब्रह्मचर्य साधना के द्वारा ऐसी बनायी जाये कि उसमें विषयों का जल किञ्चित् भी न भर सके, अन्यथा नाव डूब जायेगी।

महान् पुरुषों के ऐसे अनेकों उदाहरण हैं कि उन्होंने संयम-साधना द्वारा अपने शरीर को कभी भ्रष्ट नहीं होने दिया और न वे लक्ष्य से भटककर पतित हो सके। यहाँ **'अस्त्रवन्ती'** शब्द भी इसी बात का परिचायक है कि मनुष्य-शरीर रूपी नाव में कोई छिद्र व कोई न्यूनता शेष न रहे, अन्यथा आपका परिश्रम व्यर्थ हो सकता है। जब नाव आपकी पूर्णरूपेण उपयोगी तथा लक्ष्य तक पहुँचाने वाली होगी, तो ऐसी नाव पर – **'आ रुहेम'** हमें निश्चित ही आरूढ़ हो जाना चाहिये। पर किसके लिये ? उसका उत्तर है – **'स्वस्तये'** कल्याण के लिये। प्रश्न है – कल्याण किस प्रकार का ? तो उत्तर होगा कि – जो सर्वांगीण हो; जो इहलौकिक और पारलौकिक सुखों का प्रदान करने वाला हो।

यदि आप और हम इस प्रकार के कल्याण की कामना करते हैं तो हमें मनुष्य शरीररूपी नाव पर आरोहण कर, श्रेष्ठ नाविक बनकर, उस ओर गति देने का प्रयास करना चाहिये, जो सर्वांगीण उन्नति का कारक हो। भौतिक सुखों की उपयोगिता कभी लक्ष्य में बाधक न हो और लक्ष्य प्राप्ति का उद्देश्य संसार के प्रति उपेक्षाभाव को जाग्रत न कर सके। उपेक्षा नहीं, सदुपयोग की आवश्यकता है।

यदि शरीररूपी नाव क्षतिग्रस्त हो गयी तो लक्ष्य प्राप्ति मात्र कल्पना बनकर रह जायेगी। इसलिये लक्ष्य भी श्रेष्ठतम हो, सम्पूर्ण कल्याण की भावनायुक्त हो और साधन के रूप में नाव भी दिव्य हो; तभी भवसागर को पार कर, लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है; अन्यथा नहीं। ❑

क्या हम स्वतन्त्र हैं ?

वीरेन्द्र 'विवेक'
हरिगढ़ (उत्तर प्रदेश)

शताब्दियों पूर्व समूचे हिन्दुस्तान पर हिन्दुस्तानियों का ही राज्य था। यह बहुत ही वैभवशाली देश माना जाता था। कालगति के परिवेश में मुग़लों के आक्रमण आरम्भ हुए, फलस्वरूप हिन्दुस्तान के अनेक भागों में उनका विकट विरोध भी हुआ, तथापि कुछ कारणों से अन्ततोगत्वा उनका दिल्ली पर आधिपत्य हो गया। दिल्ली पर शासन का अर्थ है - समूचे हिन्दुस्तान पर शासन माना जाता था। दिल्ली पर शासन स्थापित करने के पश्चात् उनकी विजय यात्रायें आरम्भ हुईं। वे जिस ओर बढ़ते थे, सामान्यतः उनकी विजय हुआ करती थी। परन्तु जब वे दिल्ली की ओर समुचित व्यवस्था करके लौटते थे, तो अधिकांश विजित-क्षेत्र पुनः स्वतन्त्र हो जाता था। सारांशतः मुग़ल सम्पूर्ण हिन्दुस्तान पर एकछत्र राज्य न कर सके।

कालान्तर में अंग्रेजों ने बंगाल में प्रवेश किया। वे अपनी कुशल नीतियों से शनैः-शनैः सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में फैलते चले गये। बंगाल में वे व्यापारी के रूप में प्रविष्ट हुए थे, परन्तु बन बैठे हिन्दुस्तान के शासक। सत्ता के नशे में इन अंग्रेज शासकों ने हिन्दुस्तानियों पर अत्याचार करने आरम्भ कर दिये। कूटनीतिक-अंग्रेजों ने भोले-भाले हिन्दुस्तानियों को आर्थिक, वैचारिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व सामाजिक दास बनाना आरम्भ कर दिया। उसके ये कृत्य सन् 1853 में विकटरूप धारण कर चुके थे। अत्याचारों की सीमा बढ़ने लगी। अत्याचारों का विरोध करने व अंग्रेजों से निपटने का निश्चय हुआ। इस सन्दर्भ में सन् 1857 में सैन्यक्रान्ति भी हुई। यह मानो हिन्दुस्तान के स्वतन्त्र होने का सूत्रपात था। घर के भेदियों की सहायता से 1857 में हिन्दुस्तानियों का यह प्रयास कुचल दिया गया। बीज तो अंकुरित हो चुका था, परन्तु उस अंकुर को वृक्षरूप धारण करने के लिये यातनाओं और अत्याचारों का परिवेश मिला।

सन् 1857 से 1947 तक का 90 वर्षों का कालखण्ड स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्षों से परिपूर्ण रहा। हिन्दुस्तान को निश्चत रूप से स्वतन्त्र कराने के प्रयत्न इस कालखण्ड में चरम सीमा तक पहुँचे, ऐसा इतिहास कहता है। इन समस्त प्रयत्नों एवं संघर्षों के परिणाम के रूप में तथाकथित स्वतन्त्रता-दिवस अर्थात् 1947 की अगस्त का 15वां दिवस आया। स्वतन्त्रता मिली, परन्तु भारत-मां का विभाजन होकर। स्वतन्त्रता दिवस के साथ तथाकथित शब्द क्यों ? उत्तर के रूप में हमें विचार करना होगा कि - क्या हम यथार्थ में स्वतन्त्र हैं ? स्वतन्त्रता की परिभाषा के रूप में हम निम्न तथ्य का आश्रय ले सकते हैं -

स्वतन्त्रता का उचित अर्थ बन्धन-हीनता अथवा उच्छृङ्खलता नहीं है। उसका तात्पर्य वैयक्तिक व्यवहार की नियमितता और मर्यादा से है, जिसका सम्बन्ध आवश्यकरूप से समाज की ईकाई के रूप में व्यक्ति के व्यक्तित्त्व के विकास से होता है। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का समाज की ईकाई के रूप में विकास, स्वतन्त्रता है। व्यक्ति का विकास समाज के विकास का द्योतक है, तो समाज का विकास व्यक्ति के विकास का द्योतक है। समाज का विकास यथार्थ में समाज की स्वतन्त्रता के ऊपर निर्भर है। इस स्वतन्त्रता के विविध रूप होते हैं। यथा- आर्थिक, राजनैतिक, वैचारिक, सांस्कृतिक आदि। यह देखने के लिये कि क्या स्वतन्त्रता के विविधरूपों का व्यवहार हमारे जीवन में है, इन विविधरूपों का तार्किक विश्लेषण करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है।

सर्वप्रथम आर्थिक स्वतन्त्रता को ही लें, तो लगता है कि भारतीय समाज के लिये निर्मित आर्थिक योजनाएँ भारतीय समाज के अनुकूल नहीं हैं। कारण ? स्पष्ट होता है कि ये आर्थिक योजनाएँ वास्तव में अमरीकी, रूस, इग्लैंड आदि देशों के लिये तो ठीक हैं, परन्तु भारतीय समाज के लिये ये अनुपयुक्त हैं; क्योंकि भारत की परिस्थितियाँ इन योजनाओं से एकदम अलग हैं। यही कारण है कि हम विभिन्न देशों से ऋण लेकर गले तक ऋण में डूब चुके हैं। तो यह स्पष्ट है कि भारतीय आर्थिक योजनाएँ अभी स्वतन्त्र रूप से भारतीय समाज के अनुकूल नहीं बनी हैं, तो भारत का अब आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होना मात्र हृदय को तसल्ली देना है। यदि वास्तव में भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल एवं विदेशी प्रभाव से मुक्त आर्थिक योजनाएँ बनाई जायें तो कोई कारण नहीं कि भारत आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी न बने। यही स्थिति राजनैतिक, वैचारिक और सांस्कृतिक के सन्दर्भ में परिलक्षित होती है। आज भारतीय राजनीति विदेशियों से प्रेरणा लेती है, उसका कोई मौलिक अस्तित्त्व भी प्रतीत नहीं होता है। फलस्वरूप भारत का राजनैतिक स्तर दिन-प्रतिदिन गिरता चला जा रहा है। वैचारिक दृष्टि से यदि हम सोचें तो स्पष्ट होता है कि हम अधिकांशतः विदेशी विद्वानों के सिद्धान्तों पर निर्भर रहते हैं, स्वयं के सिद्धान्त प्रतिपादन में हमारी कोई उत्सुकता परिलक्षित नहीं होती। सांस्कृति स्थिति में भी हमने भारतीय मान्यताओं की उपेक्षा की है। फलस्वरूप संस्कृति, वेशभूषा, भाषा एवं शिक्षा आदि में हम विदेशीपन को प्राथमिकता देते हैं। इस सबसे हम अपने आप से दूर होते जा रहे हैं, मानो यथार्थ से मरीचिका की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

इन तथ्यों से तो यह स्पष्ट है कि अभी स्वतन्त्र नहीं हो पाये हैं। हममात्र भ्रम में हैं। इसी भ्रमजाल में हम एक ओर स्वप्न संजोते हैं, तो दूसरी ओर अधिक और अधिक दास बनते जा रहे हैं। यह आर्थिक, वैचारिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दासता हमारे व्यक्तिगत जीवन तक को भी प्रभाविक करती है। अतः हम संकल्प करें कि हम भारतीय मान्यताओं को आत्मसात कर पूर्णतः स्वतन्त्र होकर भारतमाता के सेवा करने का निरन्तर कार्य करते रहेंगे। ❑

तेजमहालय कहो; ताजमहल नहीं

चन्द्रकान्त
सदस्य - भारतीय इतिहास पुनर्लेखन संस्थान

कहते हैं कि मुग़ल बादशाह शाहजहाँ ने अपनी प्रिय बेगम मुमताज़ की याद में ताजमहल नामक मक़बरा बनाया था, परन्तु तथ्य इससे कुछ और ही हैं।

किसी कलाकृति के बनाने में पेड़-पौधे, पक्षी आदि की नक्काशी इस्लाम के खिलाफ है। मौलवी मौइनुद्दीन के अनुसार शाहजहाँ एक कट्टर मुस्लिम था, अतः इससे यह आशा रखना व्यर्थ है कि उसने ताज जैसी कलाकृति बनाकर इस्लाम का अनादर किया हो। अन्य विदेशी शासक उतने ही कलाप्रिय होते, जितना आज उन्हें दर्शाया जाता है, तो उन्होंने अपने मुल्कों में जरूर कोई न कोई विश्वप्रसिद्ध कलाकृति बनाई होती। मगर वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने यहाँ की कलाकृतियों का नाश किया है। कला कारीगरों के हाथ काट दिये कि जिससे वे अन्य कलाकृतियाँ न बना सकें। अतः वे कलाप्रेमी थे, नयी-नयी कला सम्बन्धी ज्ञान से परिचित थे। अब्दुल हमीद लाहौरी, जो शाहजहाँ का दरबारी लेखक था, उसने 'बादशाहनामा' के पृष्ठ 39 पर लिखा है कि - शाहजहाँ ने अपने राज्य के पुनरूद्धार किये गये सभी मन्दिरों को तोड़ गिराया, परन्तु तेजमहालय जैसी कलाकृति रह गई होगी, जिसे वह न तुड़वा सका; उसे मक़बरे के रूप में परिवर्तित कर, ताजमहल बना दिया।

किसी भी कलाप्रेमी का हृदय कभी क्रूर नहीं होता, परन्तु शाहजहाँ और मुमताज की संकुचित मनोवृत्ति धर्मान्धता और क्रूर स्वभाव के अनेक उदाहरण इतिहास में तथा उन्हीं के दरबारी अभिलेख बादशाहनामा में बिखरे पड़े हैं। उनका शासनकाल स्वर्णयुग व शान्तिमय नहीं था; अतः उसके समय में इतनी बड़ी कीमती कलाकृति का बनाना सम्भव नहीं था।

मुमताज़, शाहजहाँ की अधिकार प्राप्त साम्राज्ञी नहीं थी। उसकी प्रथम साम्राज्ञी फारस के शासक शाह इस्माइल की प्रपौत्री थी, इसलिये यह तर्क भी व्यर्थ हो जाता है कि वह मुमताज़ के प्रति इतना प्रेमनिष्ठ था कि उसकी मृत्यु के बाद उसकी याद में ऐसा भव्य स्मारक बनाये। जीते-जी जो बादशाह की 5000 रखैलों में से एक थी, वे जानवरों से भी बदतर ज़िन्दगी बिताने को मजबूर थीं, अगर वह मुमताज़ के लिये इतना भव्य स्मारक उसकी याद में मृत्यु उपरान्त बनवा सकता था, तो उसे अपनी महारानी भी बना सकता था, उसके लिये जीते-जी ताजमहल से भव्य महल रहने के लिये बनाया होगा। मुमताज़ से शाहजहाँ के इस कथित प्रेम का इतिहास में तथा स्वयं उसके दरबारी अभिलेख बादशाहनामा में एक भी उदाहरण नहीं मिलता।

मुमताज़ की मृत्यु बुरहानपुर (मध्य प्रदेश) में दिनाङ्क 20/6/1631 को एक हिन्दू भवन में हुई थी, उस समय उसी भवन के आंगन में उसे दफनाया गया। इसके छः माह बाद तेजमहालय जो उस वक़्त राजा मानसिंह के पौत्र तथा जयपुर नगर के निर्माता राजा जयसिंह की सम्पत्ति था, बादशाहनामा में जिसे आली-मंजिल कहा है, इस विशाल तेजमहालय भवन को अधिग्रहण (जब्त) करने के लिये छः माह पूर्व, आगरा से 600 मील दूर मृत मुमताज़ के शव का दुरुपयोग किया गया तथा इसके लिये झूठी शाहजहांई प्रेम-कहानी गढ़ी गई। बादशाहनामा भाग प्रथम, पृष्ठ-402-403, पंक्ति 29, 30, 33, 35, 36, 37। यह हवाला उन लोगों के लिये है जो अब भी तेजमहालय को शाहजहाँ की कृति मानते हैं। आश्चर्य तो तब होता है, जब ऐसे लोग स्वयं को मननशील, सत्यप्रिय, आर्य कहते हैं। उक्त पंक्तियों का भावार्थ यह है कि राजा जयसिंह का यह विशाल गुम्बदमुक्त, विशाल द्वारों से युक्त, भव्य महल, खुली ज़मीन के बदले में मुमताज़ को दफनाने के लिये शाहजहाँ द्वारा अधिग्रहीत किया गया।

आगे हम यह सिद्ध करेंगे कि तेजमहालय एक विशाल मन्दिर था। शाहजहाँ को डर था कि इस भवन पर वापस हिन्दूलोग भविष्य में अधिकार न कर लें, इसलिये मन्दिर को भ्रष्ट करने हेतु मुमताज़ के शव को निमित्त बनाया गया तथा झूठी प्रेमकहानी गढ़ी गई। यदि उसे मुमताज़ के प्रति इतना अधिक प्रेम होता तो उसकी कब्र को बार-बार खोदकर उसके प्रति उपेक्षा और घृणा के भाव न दिखाते हुए बुरहानपुर में ही भव्य मक़बरा बना दिया होता। परन्तु वास्तविकता यही है कि मुमताज़ उसकी वासनापूर्ति का साधनमात्र थी, तथा घृणावश उसके शव का दुरुपयोग किया गया। इसी प्रकार की भावनाओं से प्रेरित होकर साम्यवादियों ने स्टालिन की कब्र खोद दी थी। औरंगजेब के ज़माने में सिकन्दरा में स्थित अकबर की कब्र को खोदकर हिन्दुओं ने उसके अस्थि का अग्नि संस्कार किया था। तर्क-वितर्क से यही प्रकट हो रहा है कि तेजमहालय पर बलात् कब्जा करने हेतु तथा हिन्दुओं के लिये वह मन्दिर अपवित्र करने हेतु छः माह पूर्व, 600 मील दूर दफनायी गई मुमताज़ के शव का उपयोग किया गया, जो प्रेम का नहीं, घृणा का परिचायक है।

तेजमहालय की लम्बाई-चौड़ाई और साज-सज्जा एक सम्पूर्ण हिन्दू मन्दिर के अनुरूप ही है, जिसमें हिन्दू दृष्टिकोण से पवित्र माने गये वृक्ष जैसे कि वटवृक्ष, पीपल, बोरसली, बिल्लीपत्र, केतकी आदि हम देख सकते हैं। मक़बरा कभी भी सुगन्धित सुरभियुक्त पुष्पों के वृक्षों से सजाया नहीं जाता है, वहाँ तो बबूल आदि कांटेवाली झाड़ियाँ जिनकी कीमत अरब के रण प्रदेश में है, वहाँ शोभा देती है। तेजमहालय के आंगन में मस्जिद के पास ही एक बाबड़ी बनाई गयी है, जो हिन्दू धार्मिक प्रतीक है। हिन्दूधर्म में कुआ, बाबड़ी, धर्मशाला, मन्दिर, नदीघाट आदि बनवाना हमेशा पुण्य का कार्य माना गया है। ये सभी किसी मक़बरे की शोभा नहीं बन सकते। ये सारी चीजें यहाँ दृष्टिगोचर होती है।

मक़बरा हमेशा फकीरों और ग़रीबों के लिये खुला रहता है। पर तेजमहालय के जबरदस्त विशाल दरवाजे जिनमें एक अष्टधातु का है और दूसरा चांदी का बना हुआ था, जिसे आज जाटों द्वारा लूट लिया गया बताते हैं। तब दरवाजों का औचित्य मन्दिर में ही हो सकता है। क्या कोई अन्य इमारत या स्वयं के ही महल में शाहजहाँ ने चांदी-सोने के दरवाजे लगवाये थे ? यदि नहीं तो मक़बरे में चांदी के दरवाजे की कल्पना बेढंगी मान सकते हैं। तेजमहालय के खुले आंगन में चार कोने पर चार संगमरमर के प्रकाश स्तम्भ जिसे आज मीनार कहा जाता है, इन चार प्रकाश-स्तम्भों से प्रकाशित यह मन्दिर कभी उस काल में अत्यन्त प्रकाशित होता होगा और अपने नाम तेजमहालय को सार्थक करता होगा।

आज भी हिन्दू अपने पूजास्थल विवाह वेदी आदि को चार केले के पत्तों, चार स्तम्भ आदि से सजाने की परम्परा में मानते हैं। साथ ही चार बुर्ज और मध्य में घुम्मट हिमालय स्थित कैलाश का प्रतीक है। वहाँ भी इसी प्रकार का बुर्ज व मध्य में घुम्मट वाला मन्दिर है, जिसमें दोनों ओर से गौरीगङ्गा और शिवगङ्गा बहती-बहती आकर मानसरोवर में मिलती है और उसे एक बाबड़ी का रूप देती है। इसके अलावा कैलाश का मुख भी दक्षिण की तरफ है और अपना यह तेजमहालय भी दक्षिणमुखी है। अगर यह सचमुच मक़बरा होता तो इस्लामी परम्परा के अनुसार, प्रवेशद्वार पश्चिम की ओर होता, क्योंकि जीते मरते दोनों अवस्था में अल्लाह से सम्पर्क रखने के लिये इस्लाम ने सिर्फ पश्चिम का द्वार की खुला रखा है। आठ भुजाओं वाला विशाल खण्ड जिसमें सर्वोत्तम कारीगरी है, जिसके दरवाजे सोने-चांदी से जड़ित हों, रत्न-जड़ित हों, यह सारे तथ्य तेजमहालय के वास्तविक स्वरूप का परिचय कराते हैं। यह तथ्य इस बात की ओर इशारा करते हैं कि इस भवन में घर की सामग्री से भी अधिक मूल्यवान्, तेजस्वी, पवित्र और अद्वितीय वस्तु इसमें रखी जाती होगी, वह निश्चित ही किसी का मृतपिण्ड नहीं हो सकती। यह तो सिर्फ शिवप्रतिमा हो सकती है। कब्र (वर्तमान) के ऊपर गोल गुम्बद पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि नाग जोड़ी फन उठाकर इस भव्य शिवप्रतिमा का रक्षण करती हो, ऐसा प्रतीत होता है। साथ-साथ बाहर की परिक्रमा स्थान भी हिन्दू देवालयों की याद ताजा कर रही है, जिसकी दीवारों पर पुष्पबेलों से ओ३म् के चिह्न स्पष्ट उभरते हैं। अन्दर के द्रव्य भी भारतीय पुष्पों जैसा ही है, यदि यह शाहजहाँ द्वारा निर्मित मक़बरा होता तो वह कभी भी ऐसी सम्मति न देता कि उसकी प्रिय बेगम का मक़बरा हिन्दू शैली में पुष्पों के चिह्नों से सुशोभित हों। बनाने वाले कारीगर हिन्दू हों, परन्तु कार्य तो उनके मालिक की आज्ञानुसार ही करते थे। साथ ही यह कार्य मरहूम आत्मा की शान्ति के लिये हो, तो उसके तिरस्कृत धर्म के लक्षण, प्रतीकों तथा पुष्पों आदि से अलंकृत नहीं किया जाता।

कहते हैं यह तथाकथित मक़बरा एक सुरंग द्वारा किले के साथ जुड़ा हुआ है। परन्तु मक़बरे में सुरंग होना निरर्थक है क्या प्रेतात्मा उसके द्वारा किले में अपने बादशाह प्रेमी से

मिलने जाया करती थी ? अथवा शाहजहाँ सीधा साफ मार्ग छोड़कर उसके द्वारा मृतात्मा से मिलने जाता था ? 'जो वायदा किया वो निभाना पड़ेगा, रोके ज़माना चाहे रोके खुदाई तुमको आना पड़ेगा' फिल्म 'ताजमहल' ही के इस गीत के अनुसार एक बादशाह को अपनी प्रेमिका से मिलने तथा उसे अपनी साम्राज्ञी बनाने में ज़माने तथा खुदाई की तरफ से क्या रुकावट थी ? मुमताज़ के रूप में करोड़ों रुपये व्यय करने में रुकावट क्यों नहीं आई ? मुमताज़ से जीते-जी मुलाकातों करने में असमर्थ बादशाह ने क्या ज़माने के डर से चोरी-छिपे उसकी मृतात्मा से मिलने हेतु सुरंग बनवाई थी ?

इन सवालों का कोई सन्तोषकारक जवाब नहीं। यमुना नदी की ओर जाती हुई दो सीढ़ियां स्नानार्थ महिलायें, तथा पुरुषों द्वारा अलग-अलग उपयोग में ली जाती थी। उसके द्वारा यमुना में बीच जाकर स्नान कर वहीं बने हुए विशाल खण्डों में अपने कपड़े बदलकर यमुना जल शिवप्रतिमा पर चढ़ाने जाते थे। दूर जङ्गल में स्थित मन्दिरों को सुरंग द्वारा राजमहलों तथा किलों से सम्बन्ध सुरक्षा की दृष्टि से रक्खा जाता था, यह भारतीय परम्परा है।

पूर्व तथा पश्चिम के परकोटे पर दो नोबतखाने बने हुए हैं, जहाँ मांगलिक प्रसंगों पर नगाडे व शहनाई बजती थी। इस्लाम में संगीत के प्रति वैसे भी घृणा रखी जाती है। और मकबरे में तो नोबतखाने की मङ्गलध्वनि की आवश्यकता ही नहीं। प्रवेशद्वार जहाँ से यात्री दर्शनार्थी अपने टिकट खरीदते हैं, उस स्तम्भ पर गौर से देखने पर गणेश की प्रतिमा के दर्शन होते हैं। प्रवेशद्वार से जुड़े लम्बे-लम्बे दो विशाल तीर्थयात्रियों के ठहरने की धर्मशाला होने का प्रमाण उपस्थित करती है। बाहर कम्पाउण्ड में बनी बिना दरवाजों की बनी असंख्य दुकानों विविध प्रसंगों पर मेला, पर्व, उत्सवादी पर फूल, घी, दीपक, प्रसाद आदि पूजन सामग्री की बिक्री के उपयोग में आती थी। मुख्यद्वार पर 11बुर्ज, एकादश रुद्र के प्रतीक ओंमकार का स्वरूप कमल का फूल घुम्मट पर कलश के रूप विराजमान शिव, त्रिशूल यह सब प्रतीक तेजमहालय शिवमन्दिर होने के निर्देश हैं। साथ ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आगरा शहर के आसपास बने हुए श्री कैलाशनाथ, पृथ्वीनाथ, राजराजेश्वरनाथ तथा बालकेश्वरनाथ के शिवालय भी यह सिद्ध करते हैं कि यह पांचवाँ विशाल मन्दिर भी तेजमहालय भी यही हालत में होगा।

बटेश्वर शिलालेख के नाम से परिचित लखनऊ संग्रहालय में वर्त्तमान में संग्रहीत संस्कृत शिलालेख में लिखा है कि राजा परमादि देव ने आगरा के पास यमुना नदी के किनारे स्फटिक पत्थरों का विशाल शिवालय बनाया। यह निर्माण सन् 1155 में किया गया। जबकि भारत में मुस्लिम शासन सन् 1206 में शुरू हुआ। प्रथम मुग़ल शासन बाबर ने नामा में इस भवन का उल्लेख सुलतान इब्राहीम के महल के नाम से किया है। बाबर ने तेजमहालय को सन् 1526 में अधिग्रहीत किया। बाबर इसी तेजमहालय में निवास करता था, जहाँ से उसने इब्राहीम लोदी को खदेड़ दिया था। बाबर की

मृत्यु भी इसी तेजमहालय में हुई। बाबर की पुत्री गुलबदन ने इसी भवन में अपने पिता की मृत्यु तथा अपने भाई हुमायूं के राज्याभिषेक का उल्लेख हुमायूंनामा में किया है। हुमायूं के पराजित होने पर तेजमहालय वापस सन् 1540 में हिन्दुओं के अधिकार में आ गया। उसके बाद सन् 1632 में राजा जयसिंह से शाहजहाँ ने पुनः अधिग्रहीत कर लिया।

शाहजहाँ तेजमहालय की दीवारों, मेहराबों आदि पर कुरान की आयतें खुदवानी चाहीं। राजा जयसिंह द्वारा विरोध किये जाने पर दिनाङ्क 19/12/1633 को शाहजहाँ ने पुनः तेजमहालय पर सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त करने हेतु पत्र लिखा। महाराज जयसिंह ने इस बार तेजमहालय का कब्जा देने से साफ मना कर दिया। तब शाहजहाँ ने छः माह पूर्व, 600 मील दूर बुरहानपुर में दफनाई गई मुमताज़ के शव का इस पवित्र तेजमहालय को भ्रष्ट करने हेतु दुरुपयोग किया। हिन्दुओं के लिये अब यह मन्दिर अपवित्र हो चुका था। शाहजहाँ की चाल काम कर गई। यह सारा पत्र-व्यवहार बीकानेर स्थित राजस्थान राज्य के सरकारी दफ्तरों में सुरक्षित है। सिटी पैलेस जयपुर में संग्रहीत है। हिन्दुओं द्वारा तेजमहालय को भ्रष्ट मानकर कब्जा छोड़ने के बाद शाहजहाँ ने तेजमहालय में स्थित रत्न-जड़ित जालीयुक्त रेलिंग, चांदी के द्वार आदि बहुमूल्य सम्पत्ति से अपने खजाने को पूरित किया।

वर्त्तमान में किये कार्बन-1 परीक्षणों से तेजमहालय के द्वारों की निर्माणतिथि लगभग 1330 ईसवी आयी है, जो शाहजहाँ से 300 वर्ष प्राचीन है। इस पर कुछ लोग शङ्का करते हैं कि द्वारों की लकड़ी 300 वर्ष पुरानी हो सकती है। वे यह भूल जाते हैं कि लकड़ी की ऊपरी सतह का ध्यान से परीक्षण किये जाने पर ही उसकी प्राचीनता का पता लगता है। और सामान्यतया भवन पहले तैयार होता है, उसके दरवाजे खिड़कियां आदि बाद में बनते हैं। इन परीक्षणों से यही सिद्ध होता है कि पिछले साढ़े छः सौ वर्षों से ताजमहल का उत्तरी द्वार (जिसका परीक्षण किया गया) बदला नहीं गया। मौहम्मद गौरी से लेकर बाबर तक के मुस्लिम आक्रान्ताओं ने तेजमहालय को कई बाद लूटा, जलाया। हिन्दू राजाओं ने समय-समय पर इसका जीर्णोद्धार किया, नये द्वारादि लगवाये।

वेरीनिओ, ऑस्टीन, बोडॉक्स, इगेनेट, अहमद मेंहदोस, मर्दानखां, अमानत खान - इनको ताज निर्माता कारीगर के रूप में प्रचारित किया जाता है। इन्होंने सिर्फ कुरान की आयतें खुदवाने का काम किया। सुरंग तथा तेजमहालय के कुछ भूमिगत कमरे आदि बन्द करने का काम किया। शाहजहाँ ने मात्र तेजमहालय के सौन्दर्य को क्षीण किया। संयुक्त राज्य अमेरिका में ताजमहल को तेजमहालय नामक शिवमन्दिर दर्शाते हुए कलैण्डर प्रकाशित किये जाते हैं। इंग्लैण्ड की प्रजा में भी लोग ताजमहल की शाहजहांई प्रेमकहानी को ठुकराने लगे हैं तथा तेजमहालय के प्राचीन वैभव की तलाश में हैं। पर्याप्त संख्या में विश्व के देशों में तेजमहालय हिन्दू मन्दिर भवन के रूप में मान्यता प्राप्त कर

रहा है। नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत सरकार को चाहिये कि अदालती जांच द्वारा प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं, स्मारकों आदि का सही प्रामाणिक विवरण प्रस्तुतकर, इतिहास सम्बन्धी स्वस्थ ज्ञान हमारी शिक्षा संस्थाओं में प्राप्त हो। वर्त्तमान शिक्षानीति पर राजनीति हावी है; परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक तुष्टिकरण हेतु काल्पनिक तथा निराधार घटनाएँ इतिहास में समाविष्ट की जाती हैं। इस देश के लिए संहारक, विनाशक, भूमिका अदा करने वालों को निर्माता के रूप में पढ़ाया जाता है। इससे ऐसी प्रवृत्तियों को और बढ़ावा मिलता है।

इतिहास के प्रति हमारा ग़लत दृष्टिकोण ही देश की वर्त्तमान विडम्बना-पूर्ण स्थिति के लिये एक कारण है। ❐

काव्याञ्जलि

किस किसको दोष यहाँ देवें,
आवा का आवा ऊत गया।
भारत समाज द्रुम को देखो,
आमूल-चूल है सूख गया।
देखो समाज द्रुम क्षत-विक्षत,
कीटों से कोटर भरे पड़े।
अन्याय छा रहा, न्याय नहीं,
न्यायास्थल सारे सड़े पड़े।
भारत-समाज बहु व्याधिग्रस्त,
हा, चरित सूर्य है हुआ अस्त।
रक्षक ही भक्षक बने हुए,
हा, हा समाज है अस्त-व्यस्त॥

मां का महत्त्व

आचार्य श्याम

मां ने किसी सन्त से सुना था कि जिस बालक के दांतों की अग्रिम पंक्ति बृहदाकार युक्त होती है, वह बालक राजयोग अवश्य प्राप्त करता है। विद्याध्ययन करते-करते यौवनकाल में प्रविष्ट पुत्र के गृह-आगमन पर मां की दृष्टि जैसे ही पुत्र की मुखाकृति की ओर गयी, मां की आंखों में आंसू आ गये। मां की चरण-वन्दना कर, चेहरे पर आंसू देख पुत्र ने मां से पूछ लिया – 'मां ! आपकी आंखों में आंसू कैसे ?' मां ने उत्तर देते हुए कहा – 'पुत्र ! कभी मैंने सुना था कि जिस सन्तान के दांतों की अग्रिम पंक्ति में दांत बड़े होते हैं, वह सन्तान राजयोग प्राप्त करती है। मुझे भी तुझे देखकर ऐसा लगा कि मेरा बेटा अवश्य ही किसी राज्य का राजा बन जायेगा।' पुत्र ने कहा – 'मां ! फिर दुःख कैसा ? आप तो स्वयं ही राजमाता बन जायेंगी।' मां ने कहा – 'पुत्र ! तुम ठीक कहते हो कि मैं राजमाता कहलाऊंगी, पर क्या उस समय तुम्हारे पास मेरे लिए समय होगा ? तुम राजकार्यों में इतने व्यस्त हो जाओगे कि शायद मां को भी न याद कर सको, बस इसी दुर्भाग्य को सोचकर मेरी आंखों से आंसू निकल पड़े।'

मां की बात सुनकर पुत्र थोड़ा पीछे की ओर मुड़ा और एक पत्थर के टुकड़े को उठाकर तत्काल उसने अपने दांतों पर प्रहार किया। दांतों से रक्तधारा प्रवाहित होने लगी। मां ने कहा –' बेटा ! यह तूने क्या किया ? अपने दांतों को तूने अपने ही हाथों से क्षति पहुंचा ली।' मां की जिज्ञासा सुनकर पुत्र ने कहा – 'मां ! क्या राजयोग मां की ममता के आगे बड़ा है ? मेरी दृष्टि में राजयोग बड़ा नहीं, अपितु मां का आशीर्वाद और मां का वात्सल्य अधिक बड़ा है। मैं राजयोग की अपेक्षा मां के आशीर्वाद से अपने को आप्लावित करना चाहता हूँ। जो दांत आपको राजयोग का आभास दे रहे थे, मैंने वह समाप्त कर दिये हैं, अतः आप अपना आशीर्वाद और वात्सल्य का वरद-हस्त मुझे सदा प्रदान करती रहें।' पुत्र के इस त्याग और प्रेम को देखकर मां ने पुत्र को हृदय से लगा लिया और कहा – 'पुत्र ! तुम धन्य हो, तुम्हारे जैसी सन्तान को प्राप्त करके मैं धन्य हो गयी।'

ऐसे थे हमारे अखण्ड भारत के निर्माता **आचार्य चाणक्य,** जिन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य को राजपद देकर स्वयं मन्त्री बनकर धनानन्द जैसे राजा को राजपद से वंचित कर नन्दवंश के साम्राज्य का अन्त कर दिया। उनके सृजनात्मक कार्यों के कारण वे **'कौटिल्य'** नाम से भी इतिहास में प्रसिद्ध हुए। ❐

दो लहरों की टक्कर

वैद्य गुरुदत्त M.S.C
आयुर्वेद वाचस्पति, दिल्ली

श्री योगी अरविन्द जी ने अपने एक लेख में कहा है कि – **'स्वामी दयानन्द सरस्वती दो सहस्त्र वर्षों के उपरान्त वेदों को समझने वाले हुए हैं।'** मैं समझता हूँ कि श्री योगीराज जी ने समय की गणना में बहुत संकोच का आश्रय लिया है। मैं तो यह कहता हूँ कि वेद के अर्थों को ठीक समझने और उस पर आचरण का ह्रास तो महाभारत काल से भी पहले आरम्भ हो चुका था। महाभारत के काल में प्रभुता सम्पन्न तो वे हो चुके थे जो वेदार्थ को समझते नहीं थे अथवा जो वेद-विरुद्ध व्यवहार रखते थे। पूर्ण महाभारत पढ़ने पर यही पता चलता है कि दुर्योधन वेदविरोधी गुट का नेता था और उन्होंने अपने जीवन के काल में पाण्डवों को सुख का सांस लेने नहीं दिया।

महाभारत के काल के उपरान्त तो वैदिक मत मानने वालों का ह्रास द्रुतगति से हुआ था। कहते हैं कि यास्क जिसके निरुक्त के उपरान्त कोई दूसरा उसका खण्डन नहीं कर सका, वेदार्थ करने के नियमोपनियम तो ठीक जानता था। वे नियमोपनियम उसने अपने गुरुओं से पढ़े होंगे, परन्तु उन नियमों का पालन वह स्वयं नहीं कर सका। यदि वह अपने बताये नियम का पालन करता, तो वेदों में विश्वामित्र, शन्तनु, देवापि अथवा उर्वशी की कथायें वर्णन न करता। नाम धातुओं से व्युत्पन्न होते हैं, ऐसा कहकर वह इन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम वेदों में न बताता। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत के लिखने वाले वेदव्यास जी तो वेदों के भाव को यथार्थरूप में समझते थे, उन्होंने यास्क के निरुक्त का ही अनुकरण किया है, परन्तु वह यास्क की इस भूल का निराकरण नहीं कर सके। यास्क के भ्रान्त विवेचनों का ही परिणाम शङ्करादि अद्वैतवादी हुए थे।

यास्क के बहुत पीछे सायणादि वेद व्याख्याता हुए हैं। उन्होंने तो यास्क का ही अन्धानुकरण किया है। सिद्धान्तों को स्वीकार कर भी उनका प्रयोग नहीं किया। सायण के काल के उपरान्त तो घोर अन्धकार का काल भारतवर्ष में व्याप्त हो गया। राजनैतिक दृष्टि से भी और बौद्धिक दृष्टि से भी। साहित्यिक दृष्टि से यह रतिकाल कहाता है और राजनीति की दृष्टि से यह दासता का काल कहा जाता है। पठान तुर्क मुग़लों ने 700 वर्षों तक भारत को पाँव-तले रौंदा। यदि इस काल में भारत में धर्म के मूल **वेद** का नाम नहीं भुलाया गया तो इस कारण नहीं कि मुसलमानों ने अपनी विनाशकारी कार्यवाही में कहीं ढील कर दी थी। वेद का नाम यदि जीवित रहा है तो इस कारण भी नहीं कि भारत में वेद का नाम लेने वाले वेदों को पढ़ते अथवा समझते थे। उस समय तो महाभागवत

पुराण जैसे ग्रन्थ प्रचलित हो गये थे। कृष्णलीला और गोपियों के नाच नौटंकियों में दिखाये जाने लगे थे। ईश्वर-कृपा से मुसलमानी राज्य समाप्त हुआ, तो अंग्रेजों का शासन आया और उन्होंने मज़हबी और वैचारिक स्वतन्त्रता देकर भारत में नये युग का श्री-गणेश किया। तब हिन्दू समाज में दो तरंगें उत्पन्न हुईं। एक तरंग का यानि स्थान मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी की कुटिया थी और दूसरी तरंग बर्दवान के एक जमींदार के पुत्र राजा राममोहन राय के मन में उत्पन्न हुई थी। दोनों लहरों का बाहरी रूप समान प्रतीत होता था। दोनों भारत की प्राचीन गरिमा को संसार के सम्मुख रखने के लिये यत्नशील प्रतीत होते थे। इस पर भी दोनों का आधार और इन तरंगों की दिशा भिन्न-भिन्न थी। राजा राममोहन राय के अनुयायी ब्रह्मसमाजी उपनिषदों का आश्रय ले भारतीय समाज में प्रगति लाने में लगे थे। स्वामी विरजानन्द की कुटिया से उठी तरंग महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा उपनिषदों का उल्लङ्घन कर, वेदों के आश्रय पर चल पड़ी। इस कारण दोनों तरंगें एक नहीं थीं। दोनों को एक-दूसरे के समीप आकर परस्पर निरीक्षण करने का अवसर मिला सन् 1871 में, जब स्वामी दयानन्द जी कलकत्ता पहुँचे।

स्वामी जी को कलकत्ता में आमन्त्रित किया गया था एक ब्रह्मसमाज के अनुयायी ने ही, और उसने स्वामी जी का परिचय कराया था तत्कालीन ब्रह्मसमाज के नेताओं से। उस समय के नेता थे बाबू केशवचन्द्र सेन और राजा द्विजेन्द्र लाल। जब स्वामी दयानन्द जी समझ गये कि जो बाहर से एक दिखाई देते जा रहे हैं वे वास्तव में पूर्व और पश्चिम समान विरोधी दिशा में जा रहे हैं। अतः स्वामी जी ने ब्रह्मसमाज का खण्डन करने के लिये आर्यसमाज की स्थापना की।

प्रत्यक्ष रूप से तो आर्यसमाज का विरोध ब्रह्मसमाज नहीं कर सकी, परन्तु ब्रह्मसमाज की विचारधारा ने दो दिशाओं में प्रगति करनी आरम्भ कर दी। एक राजनीतिक दिशा में और दूसरी समान जनता में सब समुदायों में समभाव उत्पन्न करने में। रानाडे और तिलक थियोसोफिकल सोसायटी एवं प्रार्थना-सभा में ब्रह्मसमाज की परिपाटी के अनुयायी थे। ये सब ब्रह्मसमाज में एवं राजनीतिक दल में लाने के लिये विरोधियों से गले मिलने की योजना बनाने लगे।

स्वामी विरजानन्द की तरंग ने श्याम जी कृष्ण वर्मा, वीर सावरकर, श्री अजीतसिंह, श्री भगतसिंह इत्यादि उत्पन्न कर दिये। इसी तरंग ने स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपत राय, भाई परमानन्द जैसे विरोधियों का शौर्यता से विरोध करने वाले उत्पन्न किये थे।

राजा राममोहन राय की तरंग की ही आभा है - श्री गोखले, महात्मा गान्धी इत्यादि जो वर्तमान शासकों में दिखाई देती है।

बस, ये दो धाराएँ देश में चल पड़ीं। एक है - सब भाई-भाई, और दूसरी थी - सत्य हमारा मार्गदर्शक होगा, झूठ का खण्डन होगा। ये दोनों धारायें धर्म-कर्म में और राजनीति में भी पनपने लगीं। मैं ऐसा समझता हूँ कि आज भी देश में दो धाराएँ हैं। अंग्रेज शासक ने प्रथम ब्रह्मसमाज वाली धारा को हवा दी थी। इसमें अंग्रेज शासकों

को लाभ प्राप्त हुआ था। स्वामी दयानन्द के अनुयायी आर्यसमाजी कुछ काल तक स्वामी जी की तरंग में बढ़ते रहे, परन्तु धीरे-धीरे इनमें विरोध करने की भावना कम होने लगी। कुछ ऐसे लोग भी उत्पन्न हो गये जो विरोध की भावना को छोड़ने में बहाने ढूँढ़ने लगे। इस मनोवृत्ति के कुछ लोग ब्रह्मसमाज से ही आर्यसमाज में आये थे। किसी कारण से ये ब्रह्मसमाज में नहीं रह सके, तो ये आर्यसमाज में आ गये; परन्तु सबसे मेल रखने की भावना इनमें उपस्थित थी।

स्वामी दयानन्द मेल रखने में हानि नहीं मानते थे, परन्तु सत्य की हत्या करके नहीं, सत्य का प्रतिपादन करते हुए। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण लाहौर में उपस्थित हुआ था। स्वामी जी लाहौर पहुँचे तो नगर के मध्य में बावली साहब में रहने लगे। बावली में एक गुरुद्वारा था और वहाँ एक खुला प्रांगण भी था। स्वामी जी इस प्रांगण में व्याख्यान दिया करते थे। एक दिन श्री गुरु नानक जी के विषय में स्वामी जी कह बैठे कि उनका दृष्टिकोण तो ठीक है, परन्तु वे कुछ पढ़े-लिखे न होने के कारण कुछ एक बातों को ठीक वर्णन नहीं कर सके। बस, स्वामी जी को गुरुद्वारे के ग्रन्थी ने वहाँ से चले जाने के लिये कह दिया। स्वामी जी वहाँ से चल रत्नचन्द डाढ़ी वाले की सराय में जा ठहरे। कुछ दिन वहाँ व्याख्यान चलता रहा। वहाँ जब मूर्तिपूजा का खण्डन किया तो सराय के मालिक ने उनको वहाँ से निकाल दिया। तदनन्तर स्वामी जी लाहौर की ब्रह्मसमाज के कार्यालय में जा ठहरे। एक दिन वहाँ इंजील और कुरान में अयुक्तिसंगत बातों पर चर्चा हुई तो ब्रह्मसमाज के भक्तों ने तुरन्त उनको वहाँ से चले जाने को कह दिया। तदनन्तर स्वामी जी एक मुसलमान डाक्टर रहीम खां की कोठी पर जाकर रहने लगे।

इस प्रकार वह विचार से सत्य का प्रतिपादन और झूठ का खण्डन करते हुए स्वामी जी स्थान-स्थान से निकाले जाने पर भी अपने कार्य पर डटे रहे, और असत्य का खण्डन करते रहे। यह बात अब स्वामी जी के विचारों की अपने को उत्तराधिकारी मानने वाली आर्यसमाज में खण्डन-मण्डन की भावना शून्य समाज हो गयी है। हेल-मेल की भावना बढ़ती जाती है और इसमें वे अपना पक्ष छोड़ते जा रहे हैं। हेल-मेल की भावना सुगम है, सुरक्षित है और लाभकारी भी है। और झूठ पाखण्ड का खण्डन कठिन भयावह और त्याग-तपस्या का मार्ग है। इस कारण बाहर से उन्नति और बीच में खोखलापन आता चला जाता है।

एक दिन एक वरिष्ठ आर्यसमाजी का प्रश्न था - 'वैद्य जी ! आर्यसमाज का क्या बनेगा? उन दिनों पंजाब प्रतिनिधि सभा में मुकद्दमेबाजी चल रही थी। मेरा उन महानुभाव से कहना था - आर्यसमाज छोड़ विचार करो कि वेदधर्म का क्या होगा ? आर्यसमाज तो साधनमात्र है। साधन को बचाने के विचार से साध्य ही छूट गया तो क्या होगा ? परमात्मा से प्रार्थना है कि हम सदा सत्य को ग्रहण करने और झूठ को त्याग करने में तैयार रहें। सत्य हृदय से विचार करनेवालों से हमारा सहवास हो, हठधर्मियों से हमारा विरोध हो।

क्या मांस मनुष्य का आहार है ?

भूषण लाल आर्य
हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

मनुष्य का स्वाभाविक भोजन फल-फूल और कन्द आदि हैं। इस बात को हम यहाँ पर सप्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं; क्योंकि स्वाभाविक भोजन के छोड़ने ही से हम लोग विविध भांति के रोगों से पीड़ित हो रहे हैं। अभ्यास से मनुष्यों ने अपनी इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति को ऐसा बिगाड़ डाला है कि जिस वस्तु को देख हमें घृणा होनी चाहिये, उसे ही हम प्रसन्नतापूर्वक खा रहे हैं। इस विषय में पशु हमसे बहुत अच्छे हैं। जो पशु घास खाते हैं, वे मांस की ओर देखते तक नहीं हैं, और जो मांस खाते हैं, वे घास की ओर दृक्पात भी नहीं करते। इसी प्रकार फल और कन्दादि के खाने वाले जीव उन पदार्थों को छोड़कर घास-पात नहीं खाते। प्यास लगने पर भी पशु **'सोडावाटर'** और **'मद्य'** नहीं पीते; परन्तु मनुष्य एक ऐसा विलक्षण पशु है कि - वह घास-पात, फल-फूल, मांस-मदिरा आदि सभी उदरस्थ कर जाता है। फिर भला उसका शरीर क्यों न रोगों का घर हो जावे ?

भोजन के अनुसार थलचर पशुओं के तीन भेद हैं। **मांस-भक्षी, वनस्पति-भक्षी** और **फल-भक्षी**। बिल्ली, कुत्ता और सिंह आदि जितने भी हिंसक जीव हैं, सब मांस-भक्षी हैं। उनका स्वाभाविक भोजन मांस ही है। इसलिये उनके दांत लम्बे, नुकीले और दूर-दूर होते हैं। इस प्रकार दांतों से ये जीव को फाड़कर निगल जाते हैं। उनके दांतों की रचना से यह स्पष्ट सूचित होता है कि ईश्वर ने उन्हें मांस खाने ही के लिये वैसे दांत दिये हैं। गाय, बैल, घोड़ा, बकरी इत्यादि जीव वनस्पति-भक्षी हैं; इसलिये ईश्वर ने उनके दांत ऐसे बनाये हैं, जिससे उनसे वे घास को सहज ही काट सकें। उनके दांतों की रचना ही उनके वनस्पति-भक्षी होने का प्रमाण है।

मनुष्य के दांत न तो मांस-भक्षी पशुओं से मिलते हैं और न घास-भक्षी पशुओं से ही। उनकी बनावट ठीक वैसी ही है, जैसी बन्दर आदि फल-भक्षी जीवों के दांतों की होती है। अतएव यह बात निर्विवाद है, निर्भ्रान्त है, निःसंशय है कि ईश्वर ने मनुष्य के दांत फल खाने के लिये बनाये हैं। परन्तु हम लोग अब उनसे मांस और मछली काटने लगे हैं, बिस्कुट चबाने लगे हैं, आगरे की दालमोठ और लखनऊ की रेवड़ी तोड़ने लगे हैं। इस पर भी कोई नीरोग होने का दावा कर सकता है ?

मांस-भक्षी जीवों का मेदा छोटा और गोल होता है। उनके शरीर से उनकी अंतड़ियां तीन से लेकर पाँच गुना तक अधिक लम्बी होती है। वनस्पति-भक्षी पशुओं का मेदा बहुत बड़ा

होता है। वे खाते भी अधिक हैं। उनकी अंतड़ियां उनके शरीर से बीस से लेकर अट्ठाईस गुना तक अधिक लम्बी होती हैं। अब रहे फल-भक्षी जीव। उनका मेदा मांस-भक्षी जीवों के मेदे से अधिक चौड़ा होता है और उनकी अंतड़ियां उनके शरीर से दस से लेकर बारह गुना तक अधिक लम्बी होती हैं। अब इन तीनों प्रकार के जीवों से मनुष्य का मिलान कीजिये। सिर से लेकर रीढ़ की हड्डी के छोर तक मनुष्य की लम्बाई डेढ़ से ढाई फुट तक होती है, और मनुष्य की अंतड़ियों की लम्बाई सोलह से लेकर अट्ठाईस फुट तक होती है। अर्थात् उनकी लम्बाई शरीर की लम्बाई से दस-बारह गुना अधिक हुई। यहाँ भी फल-भक्षी पशुओं से मनुष्य की समता मिली। शरीर के अनुसार मनुष्य की अंतड़ियाँ फल खाने वाले पशुओं की सी ही निकलीं। अतएव मनुष्य के फल-भक्षी होने का यह दूसरा प्रमाण हुआ।

जिस वस्तु को उसकी स्वाभाविक दशा में देखकर खाने को जी चाहे, वही मनुष्य के खाने योग्य है। उबालने-भूनने और मसाला लगाने से किसी वस्तु की स्वाभाविक अवस्था नहीं बदल सकती। भेड़, बकरे अथवा मछली आदि को देखकर किसका मन उस पर दांत मारने को होता है ? कच्चा साग़ और कच्ची तरकारी खाने की किसकी-किसकी इच्छा नहीं होती है ? फिर उसमें चाहे कितना ही घी खर्च करे और चाहे कितना ही माल-मसाला लगावें, उनकी आन्तरिक अवस्था वैसी ही बनी रहेगी, उनमें कदापि अन्तर न होगा। अतएव जिस वस्तु को उसकी स्वाभाविक अवस्था में देखकर, जी मनचाने लगे अथवा घृणा हो, वह वस्तु मनुष्य के खाने योग्य नहीं है।

जो वस्तु स्वभाव से जैसी होती है, उसे वैसे ही खाने से वह शीघ्र पच जाती है और शरीर में बल बढ़ाती है। परन्तु हजारों वर्ष से हम लोग अस्वाभाविक भोजन कर रहे हैं; अतएव कच्चे अन्न को उसके स्वाभाविक रूप में हम नहीं चाब सकते। क्योंकि हमारे दांत और हमारा मेदा अशक्त हो गया है। इसलिये जब तक बलवान् न हो जावें, तब तक अन्न को नरम करके खाना चाहिये। उत्तम यह होगा कि मनुष्य चोकर समेत अर्थात् बिना छाने हुए आटे की रोटी खावे। चोकर में एक विशेष प्रकार की पाचकशक्ति है। अतएव यह न समझना चाहिये कि उससे कोई लाभ नहीं होता। पेट में जाकर चाहे उसका रूप न बदले और वह अपने पहले ही रूप में बाहर आ जाये, तथापि इसका खाना निष्फल नहीं होता। पेट में पहुँचकर वह अपना काम किये बिना रहता ही नहीं।

जैसा अभी कहा है कि मनुष्य फल-भक्षी है। खेत, बाग़ और जङ्गल में होने वाले फल और कन्द मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है। इन पदार्थों में से जिनको देखने, सूंघने अथवा स्वाद लेने से घृणा हो, जी मचलाने लगे, दुर्गन्ध आवे अथवा कडुवे लगें, उनको न खाना चाहिये। कन्द अर्थात् जड़ की अपेक्षा फल खाना अधिक लाभदायक है। कन्द कभी-कभी खाना चाहिये। (चौराई, पालक, मैंथीं आदि साग़ मनुष्यों के लिये उपयोगी नहीं। उनको वनस्पति

जगत् के जीवों के लिये छोड़ देना चाहिये। जो पदार्थ अपने स्वाभाविक रूप में खाये जाने से अच्छे लगते हैं, अथवा उनको स्वाभाविक रूप में देखकर खाने को जी चाहता है, वे शीघ्र पच जाते हैं और वे ही सबसे अधिक बलवर्द्धक होते हैं। (जिनको कूटना, पीसना, उबालना, भूनना, मसाला या नमक लगाना और तेल या सिरके में डालना पड़ता है। उनकी पाचकता जाती रहती है। अतएव स्वाभाविक पदार्थों की अपेक्षा वे कम बलवर्द्धक होते हैं।) जिन पदार्थों की उनके स्वाभाविक रूप में देखकर घृणा हो अथवा जी मिचलाता हो, उनको कभी भी भूलकर भी सेवन नहीं करना चहिये।

इसलिये उपरोक्त कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य फल-भक्षी है स्वभाव से। मांस मनुष्य का स्वाभाविक आहार नहीं है, न कभी हो सकेगा। ❐

* महर्षि उवाच *

मांस भक्षण करने, मद्य पीने और पर-स्त्री-गमन करने आदि में दोष नहीं है, यह कहना छोकड़ापन है। क्योंकि बिना प्राणियों को पीड़ा दिये मांस प्राप्त नहीं होता और बिना अपराध के पीड़ा देना धर्म का काम नहीं। (सत्यार्थप्रकाश)

शुभ-गुणयुक्त, सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर, जो अपने पेट भरके संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देनेवाले और पापीजन होंगे ? (गोकरुणानिधि)

हे मांसाहारियो ! तुम लोगों को जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं ? (गोकरुणानिधि)

सिरदर्द दूर करने के उपाय

आचार्य श्याम

* सिरदर्द होने की अवस्था में दालचीनी के चूर्ण को पानी में मिलाकर ललाट पर लेप करें, निश्चित ही लाभ होगा।

* खाली पेट सेव को काले नमक के साथ नाश्ते में खाने से भी सिरदर्द की समस्या दूर हो जाती है।

* तुलसी के पत्तों के अर्क में नारियल का तेल मिलाकर सिर में लगाने से भी सिरदर्द दूर हो जाता है।

* माइग्रेन (आधाशीसी का दर्द) में रात्रि को सोते समय गाय के घी को नाक के दोनों नथुनों में एक-एक बूँद डालने से भी सिरदर्द दूर होता है।

* सौंठ के चूर्ण में गुड़ मिलाकर गोली बना लें। दो-दो गोली प्रातः-सायं जल के साथ सेवन करने से सिरदर्द की समस्या दूर हो जाती है।

* गाजर, गोभी, ककड़ी एवं नारियल मिश्रित रस का प्रतिदिन सेवन सिरदर्द में लाभ देता है।

* गुनगुने पानी में हींग घोलकर माथे और कनपटी पर लेप करें, इससे भी सिरदर्द की समस्या का निदान होता है।

* सफेद तिल के साथ वायविडंग को भी पीस लें। पानी मिलाकर इस चूर्ण का माथे पर लेप करने से भी सिरदर्द समाप्त हो जाता है।

* लहसुन के अर्क में चुटकी भर हींग मिलाकर नाक के नथुने में एक-एक बूँद अर्क डालने से भी सिरदर्द या आधाशीसी दर्द दूर होता है।

* देशी घी में खांड वाली शक्कर मिलाकर खाने से भी माइग्रेन का दर्द ठीक होता है।

* पेठे में थोड़ा-सा शुद्ध कपूर रखकर खाने से भी माइग्रेन का दर्द दूर होता है।

* प्रवाल पिष्टी, मोती पिष्टी, गोदन्ती भस्म बराबर मिलाकर नाश्ते से आधा घंटा पूर्व शहद के साथ मात्र दो ग्राम सेवन करने से सिरदर्द दूर होता है। ❐

बच्चों को संस्कारवान् बनायें

तारा शर्मा
प्रधाना- धर्म संवर्द्धिनी सभा

आज भारतदेश में नई पीढ़ी जिस तीव्रता से आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रही है, जब उसके क्रिया-कलाप और परिणाम पर दृष्टि डाली जाय तो हमें निराश होने पर मजबूर होना पड़ता है। ऐसा नहीं कि हमें नई पीढ़ी की उन्नति देखकर कोई उनसे ईर्ष्या या द्वेष है, अपितु इसलिये कि जीवन के मापदण्डों को दरकिनार कर, जिस प्रकार से नई पीढ़ी आगे बढ़कर एक नई सृष्टि के सृजन करने में तत्पर है, हमें ऐसा प्रतीत होता है कि उनके इस कार्य से उनका भविष्य उज्ज्वल नहीं है। हो सकता है कि वह जिस इच्छा को उतावलेपन से पूर्ण करने को यत्नशील हैं, उसके परिणाम उन्हें स्वयं में असन्तुष्ट कर दें। उसका प्रमुख कारण यह है कि नई पीढ़ी जिस मनमानी व उच्छृङ्खलता का सहारा लेकर केवल भौतिक उन्नति के सोपानों पर कदम रखकर सुख को संजोना चाह रही है, हो सकता है कि वह उन्हें क्षणिक सुखों की अनुभूति करा सके, पर उनके कार्यों का परिणाम दुःख के रूप में ही होगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी उनके कृत्यों को देख-देखकर जिस प्रकार से अवसाद के सागर में डूबती चली जा रही है, उस अवसाद को समाप्त करने का उन्हें कोई उपाय नज़र नहीं आ रहा। ऐसी भयावह स्थिति बनती जा रही है कि न पुरानी पीढ़ी सन्तुष्ट है और न नई पीढ़ी। क्या इस समस्या का कोई समाधान है कि दोनों पीढ़ियों का अवसाद समाप्त होकर उन्हें सुखद परिणाम तक पहुँचा सके ? तब इस प्रश्न का उत्तर होगा - समाधान अवश्य है; पर जब उस समस्या के समाधान तक जाने का कोई मनुष्य पुरुषार्थ ही न करे और न उसके लिये चिन्तन, तो मात्र कल्पना से ही समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता।

जैसे कोई मूर्ख व्यक्ति किसी पौधे की जड़ में जल न डालकर मात्र पौधे के पत्तों को सींचने का प्रयत्न करता हो, जैसे वह उस पौधे की रक्षा करने में असमर्थ है, वैसे ही असमर्थता का परिदृश्य पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी में भी देखा जा सकता है। उसका स्पष्ट कारण है कि जिसका समाधान जिस प्रकार होना चाहिये, उस कारण को न पहचाना जा रहा है और न उसका समाधान निकाला जा रहा है। जड़ में दिया हुआ पानी जैसे पौधे को आन्तरिक रूप से सम्बल देता हुआ उसकी वृद्धि का कारण बन जाता है, ठीक वैसे ही दोनों पीढ़ियों के अवसाद ग्रस्त होने का मूल कारण पता लगाना आवश्यक है। पर विडम्बना यह है कि पुरानी पीढ़ी परिणामों को देखकर असन्तुष्ट है और नई पीढ़ी परिणाम देखने को तैयार नहीं। उसके मन में जो भी इच्छा

उत्पन्न हो रही है, वह येन-केन-प्रकारेण उसे पूरा करने में तत्पर है। अब आप विचार करें कि क्या इस समस्या को निर्मूल किया जा सकता है ? जबकि विद्वानों का कथन है कि समस्या मनुष्य स्वयं स्वार्थ के कारण उत्पन्न करता है। यदि वह समस्या से छुटकारा पाना चाहता है तो इसके मूल कारण को समझना पड़ेगा, उसके प्रारम्भिक रूप में किये गये पोषण कार्यों पर विचार करना पड़ेगा। कब और किस रूप में पोषण करना है, इस पर भी परिपक्वता के साथ पुरुषार्थ करना पड़ेगा, तब कहीं कुछ वर्षों के बाद सुखद परिणाम आने की संभावना भविष्य में उत्पन्न हो सकती है, अन्यथा नहीं।

उसके लिये प्रथम निवेदन यह है कि आप सबसे पहले यह विचार करें कि क्या आपने बच्चों के बाल्यकाल में किसी नैतिकता व शुभ संस्कार द्वारा कर्त्तव्य की शिक्षा दी ? यदि नहीं, तो फिर अगली पीढ़ी को दोष देने के स्थान पर आप स्वयं को ही दोष दें, तो अधिक अच्छा होगा। जिस पीढ़ी का प्रारम्भ ही दोषपूर्ण रहा हो, उसको यौवनकाल में दोषरहित देखने की कल्पना करना मूर्खता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यदि आप चाहते हैं कि नई पीढ़ी यौवनकाल की स्थिति में आने तक दोषरहित स्थिति को प्राप्त हो, तो उसके लिये आवश्यक है कि उसके प्रारम्भिक काल को, जिसकी जिम्मेदारी आपके ऊपर स्वयं है, उसको सर्वप्रथम दोष रहित बनाया जाय। इसके लिये आवश्यक है कि आप अपनी व्यस्तता के काल में प्रातः-सायं एक-दो घण्टे का समय बच्चों के मध्य व्यय करें। आपका बच्चों के मध्य समय देना आपको कुछ समय बाद सुख का परिणाम अवश्य देगा। उस सुखद परिणाम में सर्वप्रथम परिणाम यह होगा कि आपके और बच्चों के मध्य संवाद की स्थिति बनेगी। जब आप प्रतिदिन संवाद का अवसर उपस्थित करेंगे, तो उस संवाद में आपको अपने बच्चे की आकांक्षा, कुशलता तथा उसकी मनःस्थिति का स्वयं ज्ञान होने लगेगा। संवाद एक ऐसी प्रक्रिया है जो एक-दूसरे के मनोभावों को स्वतः प्रकट करती है। अब संवाद की प्रक्रिया उचित-अनुचित क्या है, यह निर्णय बच्चों पर नहीं, अपने ऊपर लें। बच्चों की अपरिपक्व बुद्धि कभी उचित निर्णय नहीं ले सकती। आपकी बुद्धि परिपक्व है, आपने अपने जीवन में अनेकों अनुभव प्राप्त किये हैं, आपके अन्दर क्षमता है कि बच्चे की सोच और अपनी सोच के अन्तर को जानने की तथा उसका समाधान निकालने की।

आप अपनी क्षमता का प्रयोग करें और बच्चों को यह समझायें कि इस समय आपका कर्त्तव्य क्या है ? जीवन के हर पड़ाव पर प्राथमिकतायें व कर्त्तव्य बदलना स्वाभाविक है। इसलिये आप बच्चों की क्षमता और अवस्था देखते हुए उन्हें स्वयं को पहचानने की क्षमता पर जोर दें। इससे बच्चों में आत्मनिर्भरता का गुण जाग्रत होने लगेगा। बच्चों को उचित फैसले लेने के साथ-साथ हर काम के लिये दूसरों पर निर्भर रहने की आदत कमजोर होने लगेगी। जब माता-पिता बच्चों के साथ लाड़-प्यार में प्रत्येक कार्य करने की जिम्मेदारी स्वयं अपने ऊपर ले

लेते हैं, इससे वे अपने बच्चों का उपकार नहीं कर रहे, अपितु अनुपकार ही करके उन्हें आलसी बनाने का अक्षम्य कार्य कर रहे हैं। प्रयत्न आपका यह होना चाहिये कि बच्चे किसी भी कार्य में आलस्य न करें। यदि करें, तो पहले उन्हें समझाने का प्रयत्न करें, यदि फिर भी वे आलस्य के साथ कार्य करते दिखाई दें, तो उन्हें आप डांट भी सकते हैं। हमारे यहाँ शास्त्रों में उद्दण्डता को शान्त करने लिये डांटने का भी विधान है। पर वह कितना और कब हो, यह भी आपको जानना आवश्यक होगा।

बच्चों में सकारात्मक भाव जाग्रत करने का प्रयत्न करें। यदि आपको ऐसा लगता है कि हमारा बच्चा अनेकों प्रकार की निराशाजनक बातें कर अपने को कमजोर समझता है, तो आप उसकी नकारात्मकता को दूर करने का प्रयास करें। किसी ने कहा है - 'उदासीनता से जीवन-रथ के आशा और उत्साह रूपी दो मुख्य घोड़े मर जाते हैं और मनुष्य को संसार अंधकारमय और भयदायक लगता है। बालकों में विरक्ति का भाव निर्भीकता के स्थान पर निराशा और भय की सृष्टि का सृजन करना है।' ऐसे बच्चों को उन महापुरुषों के जीवन के प्रसंगों को सुनायें, जिन्होंने अपने पुरुषार्थ और कर्त्तव्य परायणता के बल पर महानता को प्राप्त किया है और वे सबके पूजनीय बने हैं। आप अपनी क्षमता और अपनी कल्पना को न थोपें, अपितु बच्चों की क्षमता और रुचि के अनुसार उनका भविष्य निर्धारण करें। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बच्चा डाक्टर या इंजीनियर बने। हो सकता है कि आपका बच्चा अच्छा संगीतज्ञ बनना चाहता हो, अच्छा क्रिकेटर बनना चाहता हो, अच्छा एंकर बनने की उसकी इच्छा हो। प्रयास ऐसा होना चाहिये कि माता-पिता बच्चे की रुचि और योग्यता पहचानने पर जोर दें, उसके अनुसार उसके लक्ष्य को निर्धारित करें। यदि किसी बच्चे को सचिन तेंदुलकर जैसा बनना है, तो वह इंजीनियर या डाक्टर बन जाये, यह आवश्यक नहीं। आप अपना जो भी विचार बच्चों के मध्य प्रस्तुत करें, उसमें नैतिकता एवं शुभ संस्कारों का प्राबल्य अधिक हो, इस बात का विशेष ध्यान दें। क्योंकि जीवन में चरित्रवान् और संस्कारवान् बनना अत्यन्त आवश्यक है।

अर्थोपार्जन के लिये आपका बच्चा नौकरी करे या व्यवसाय, यदि वह सुसंस्कारवान् व चरित्रवान् नहीं है, तो अपने कार्य में कर्त्तव्य पालन के स्थान पर येन-केन-प्रकारेण धन अधिक से अधिक प्राप्त करने पर विशेष ध्यान देगा। उसकी अपने कार्य के प्रति कर्त्तव्य-भावना तिरोहित हो जायेगी। इसलिये आप प्रत्येक दिन अपने बच्चे को सुसंस्कारित करने के कार्य को विशेष पुरुषार्थ से करने का प्रयत्न करें। संस्कार वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मन-मस्तिष्क में जो विचार अंकित हो जाते हैं, विपरीत परिस्थिति में भी उसको पतित होने से बचाने का कार्य करते हैं। जोरावर और फतेहसिंह का यदि धर्मरूपी संस्कार प्रबल न होता, तो क्या वे हंसते-हंसते दीवारों में अपने को चुनवा सकते थे ? क्या बाल हक़ीकत राय धर्म की बलिवेदी पर अपने प्राण न्यौछावर कर सकते थे ? यह तभी सम्भव हो

सका जबकि उनके माता-पिता ने बाल-मन में शुभ संस्कारों का आधान किया।

परिवार के सभी अभिभावक सदस्यों का कर्त्तव्य है कि बालकों में यह भाव उनके मन में बैठाने का प्रयत्न करें कि बड़ों की आज्ञा की अवहेलना करना पाप होता है। यह छोटा-सा प्रयास बालकों को कुतर्क करने की स्थिति से बचायेगा। जिन परिवारों में बचपन में बच्चों को संस्कारित नहीं किया जाता, उस काल में बालक अपनी बुद्धि द्वारा तर्क-कुतर्क करने की मनमाने ढंग से कोशिश करते हैं। उस समय वह बड़ों की बात मानने के स्थान पर बड़ों को बात मनवाने पर मजबूर करते हैं, और अनेकों प्रकार के कुतर्क देने का भी प्रयत्न करते हैं। जैसे पौधे की डाल को प्रारम्भ अवस्था में मनोनुकूल मोड़ा दिया जा सकता है, वही डाल बड़े और सख़्त होने पर मनोनुकूल रूप में नहीं मोड़ी जा सकता, यही स्थिति बालकों के मन की है। उनकी शैशवावस्था-बाल्यावस्था से लेकर कुमारावस्था तक जो मोड़ संस्कार के रूप में देना चाहें, उन्हें वह आत्मसात् कर लेगा। पर यौवनावस्था आने पर शायद उस रूप में आत्मसात् न करेगा। उसका कारण यह है कि अब वह अपनी बुद्धि का भी प्रयोग करना सीख गया है। परिणाम उचित होगा या अनुचित उसे कोई पता नहीं, जबकि माता-पिता का निर्णय उन्हें पतित होने से बचा सकता है। इसलिये माता-पिता को चाहिये कि वे बालकों के बाल्यकाल में जो रूप-प्रतिरूप संस्कारों के रूप में देना चाहें, उसमें किसी प्रकार का आलस्य न करें।

नियमित व्यायाम करना, तेल मालिश करना, उचित समय पर सोना और जागना, रात्रि में जागरण न करना, सदा समय का पालन करना, व्यर्थ की बातों में कभी भी समय व्यतीत न करना, माता-पिता-गुरुजनों एवं वृद्धों की आज्ञा पालन करना, धर्म और अधर्म का अन्तर स्थापित करना, देश-धर्म-समाज की सेवा में आलस्य न करना, स्वार्थ के स्थान पर परोपकारमय जीवन की महत्ता को श्रेष्ठ समझना आदि शुभ संस्कारों की पूंजी जब बच्चे ग्रहण कर लेंगे, तो जहाँ उनका स्वयं का जीवन श्रेष्ठ होगा, वहाँ वह राष्ट्र के अच्छे नागरिक बनकर सच्चे राष्ट्र-सेवक बनेंगे, तब आपकों उनके सत्कर्म देखकर जिस प्रकार से आन्तरिक प्रसन्नता से आपका हृदय भर जायेगा, तब आपको स्वयं अनुभव होगा कि प्रभु ने मुझ पर अत्यन्त कृपा की है। मैंने बच्चों को जिस धर्म व सेवा के सांचे में ढाला था, बच्चे मेरे उसी के अनुरूप हैं, यह प्रसन्नता सांसारिक धन-दौलत की अपेक्षा से अधिक महत्त्वशाली होगी।

विडम्बना यह है कि बच्चों के बचपन में माता-पिता समय न देकर मोबाइल आदि आधुनिक उपकरण उन्हें पकड़ा देते हैं, जब वे बच्चे उन उपकरणों के अभ्यस्त हो जाते हैं, उन्हें उनके उस कार्य से हटाना असम्भव होता है। उसका कारण यही है कि जिस काल में आपको समय और पुरुषार्थ करना था, आपने नहीं किया, अब पछताने से कोई लाभ नहीं। इसलिये बच्चों के प्रति अपने कर्त्तव्य को पहचानो, तभी श्रेष्ठ समाज व राष्ट्र का निर्माण हो सकेगा। ❐

वेदों का सांस्कृतिक विश्लेषण

सहदेव चक्रवर्ती
नैनीताल (उत्तराखण्ड)

इस विश्व में अनेक संस्कृतियों का नाम सुनने में आता है। रोमन, ग्रीक और योरोपियन संस्कृतियों का नाम सुनते ही विश्व-इतिहास के विद्यार्थी के सामने रोम, ग्रीस और योरोप के ऐतिहासिक चित्र दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इन संस्कृतियों की एक ऐतिहासिक भूमिका भी है। निष्पक्ष दृष्टिकोण से इनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन रोग की अर्थलोलुपता, ग्रीस का सीमातीत सौन्दर्य और योरोप के भौतिकवाद ने आधुनिक मानव को आत्मघात करने को प्रेरित किया है। इस संसार में एक और संस्कृति विद्यमान है, और वह है - **'वैदिक संस्कृति'**। भारत के प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों ने वैदिक संस्कृति के सम्पूर्ण तत्त्वों को अपने जीवन में खपाया था।

यह कहते हुए हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि भारतीय संस्कृति वैदिक-संस्कृति का एक रूपान्तर है। जो सम्बन्ध वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का है, वही सम्बन्ध वैदिक और भारतीय संस्कृति का कल्पित किया जाना चाहिये। यदि ब्राह्मण वेदों के व्याख्याकार हैं तो बुद्ध, व्यास और दयानन्द के जीवन भी, जिनमें भारतीय संस्कृति ओतप्रोत थी, वैदिक संस्कृति के भाष्यकार कहे जा सकते हैं। आप कहेंगे कि रोमन, ग्रीक और योरोपियन संस्कृतियों की तरह वैदिक-संस्कृति की भी कोई अपनी विशिष्टता है - मानवता अथवा मानवता के प्रतिपादक समानता, स्वाधीनता और बन्धुता। किन्तु इन सब विशिष्टताओं का आधार कौन-सी चीज़ है, यह भी एक प्रश्न है ? मेरे विचार में **'वर्ण-व्यवस्था'** एक ऐसी चीज़ है, जिसे हम वैदिक-संस्कृति का आधारभूत सिद्धान्त कह सकते हैं। वेद में लिखा है -

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत॥

(यजु0 31/11)

इस मन्त्र में मानव-समाज के चतुर्विध विभाग की झलक पाई जाती है। यहाँ शारीरिक अङ्गों से चातुर्वर्ण्य को उपमित किया गया है। संसार के भूतकालीन एवं वर्तमान इतिहास को देखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मानव-समाज सदा तीन वस्तुओं को अनिवार्य रूप से अनुभव करता रहा है। वे चीज़ें हैं - अज्ञान, अन्याय और अभाव। सन् 1942 ई0 में अन्धमहासागर के वक्षस्थल पर आरूढ़ होकर अमेरिका के प्रधान श्री रूज़वेल्ट तथा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री जी चर्चिल ने विश्व में नवीन योजना चालू करने के लिये जिस एटलांटिक-चार्टर का चित्र खींचा था, उसमें भी अज्ञान-अन्याय और अभाव को दूर करने पर बल दिया गया है। यह

तो विदित ही है कि इन तीनों बुराईयों को नष्ट करने के लिये समाज को **ब्राह्मण, क्षत्रिय** और **वैश्य** – इन वर्गों में विभक्त करना होगा। केवल ज्ञानभानु ब्राह्मणों का प्रकाश ही विश्व में अज्ञान तिमिर को छिन्न-भिन्न कर सकता है। क्षत्रिय लोग शस्त्र धारण द्वारा प्रजापीड़कों से प्रजा की रक्षा कर सकते हैं, और वैश्यलोग प्रभूत वित्तोपार्जन तथा दानादि से राष्ट्र के अभाव को दूर कर सकते हैं। अज्ञान, अन्याय और अभाव को दूर करने का एकमात्र उपाय है – ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के कार्यों का उत्तरदायित्त्वपूर्ण निरूपण। यदि मानव-समाज को चतुर्विध रूप से विभक्त न किया जाय, तो विश्व सर्वाङ्गीण विकास करने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। किन्तु इस विभाग का निरूपण करते समय हमें गीता के इन शब्दों को ध्यान में रखना चाहिये –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मस्वभावशः ॥

(गीता-4/13)

गुण-कर्म-स्वभाव को देखकर ही व्यक्ति को कोई वर्ण ग्रहण करने की प्रेरणा करनी चाहिये। इन वर्णों में कोई भी अपने को छोटा-बड़ा नहीं कह सकता। वेद में लिखा है –

अ॒ज्ये॒ष्ठासो॒ अक॑निष्ठास ए॒ते सं भ्रा॑तरो वावृधुः सौभ॑गाय। युवा पि॒ता स्वपा॑ रु॒द्र ए॑षां सु॒दुघा॒ पृश्नि॑ः सु॒दिना॑ म॒रुद्भ्य॑ः ॥

(ऋ0 5/60/5)

आज सम्पूर्ण संसार की विषमता और युद्ध की ज्वालाओं से दग्ध है। मानव समाज अशान्त है, भूखा है और सामाजिकता गिरगिट कर तरह रङ्गीन जामा ओढ़े हुए है। इन सब चीज़ों का क्या कारण है ? इसका केवलमात्र कारण है – मानव-संस्कृति की उपेक्षा और उस संस्कृति का अभाव, जो वैदिक-संस्कृति की सुन्दरतम प्रतीक है। संसार में शान्ति स्थापित करने का एकमात्र उपाय **'वर्णव्यवस्था'** की स्थापना हो सकती है। वर्णधर्म को महत्त्व देने वाला समाज अपना विशेष उत्तरदायित्त्व अनुभव करता हुआ अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करेगा। वेद का यह कितना सुन्दर उपदेश है –

कु॒र्वन्ने॒वेह कर्मा॑णि जिजीवि॒षेच्छ॒तꣳ समा॑ः ॥

(यजु0 40/2)

अर्थात् – सौ वर्ष पर्यन्त मनुष्य को निरन्तर कार्य करते रहना चाहिये। यदि समाज के ब्राह्मण अज्ञान का नाश करने पर तुल जायें, क्षत्रिय पराक्रम द्वारा समाज के शत्रुओं का दलन करने के लिये कटिबद्ध हो जायें और वैश्य धनोपार्जन एवं वितरण द्वारा धनाभाव की पूर्ति करने पर उतारु हो जायें, तो मानव-समाज धरती पर अनोखा और आकर्षक स्वर्ग बन जायेगा। मेरे विचार में वैदिक-संस्कृति का विश्लेषण करते हुए अथवा वेदों का सांस्कृतिक विश्लेषण करते हुए हमें **वर्णव्यवस्था** को भी महत्त्व देना होगा। यह वेद और आर्यसमाज का आधारभूत सिद्धान्त है। पाश्चात्य लोगों पर वर्णव्यवस्था के महत्त्व का यहाँ तक रङ्ग जमा है कि वे वैदिकधर्मी की व्याख्या ही इस प्रकार करते हैं – **'जो वर्ण-व्यवस्था में आस्था रखता है।'**

एक स्थान पर वेद में गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने वाले व्यक्ति को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – इन तीनों की विशेषताओं से युक्त होने का निर्देश किया है। **'ऊ॒र्ज॑ विभ्र॑द्वसु॒वनि॑ः**

सुमेधाः' यह अथर्ववेद (7/60/1) के शब्द हैं। मैं वर्णव्यवस्था को वैदिक-संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग मानता हूँ। यदि संस्कृति का यह लक्षण किया जाय कि - **'जिस योग्यता, प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा के बल पर किसी वस्तु का आविष्कार हुआ है, वह है समाज की विशेष संस्कृति'** तो उपरोक्त तर्कणा सर्वथा सत्य सिद्ध होती है। किन्तु संस्कृति तभी सफल हो सकेगी, यह वह किसी सभ्यता का निर्माण करेगी। हमें सभ्यता का लक्षण ऐसे करना होगा - **'संस्कृति द्वारा आविष्कृत वस्तु'।** इस लक्षण को मानकर हमें वैदिक-संस्कृति द्वारा वैदिक सभ्यता का निर्माण करना होगा। हमें संसार में इस समय ऐसी कोई संस्कृति नहीं मिलती, जो वैदिक-संस्कृति का रूपान्तर कही जा सके ? फिर भी प्राचीन भारतीय संस्कृति को हम वैदिक-संस्कृति का भाष्यकार कह सकते हैं, और भारतीय संस्कृति ही मानवीय संस्कृति है।

वैदिक-संस्कृति, गङ्गा की सदा बहने वाली धारा के समान है। 13800 फुट ऊँची गंगोत्री से निकलकर अपने मूल स्त्रोत से 2557 मील बहकर गङ्गा समुद्र में गिरती है। बीच में असंख्य नदियाँ उसमें आकर मिलती हैं, परन्तु फिर भी गङ्गा का व्यक्तित्त्व और अस्तित्त्व ज्यों का त्यों कायम रहता है। यही अवस्था वैदिक-संस्कृति की अक्षय धारा का है। युगों के दौर में उसमें अनेक संस्कृतियाँ आकर मिलीं, किन्तु वैदिक-संस्कृति ने उन सब संस्कृतियों को अपने अन्दर खपाकर लीन कर लिया और अपना वैदिक-स्वरूप ज्यों का त्यों कायम रखा। यही तो वैदिक-संस्कृति का महत्त्व है। इस महत्त्व का हम तभी प्रतिपादन कर सकेंगे, जब अपने स्वार्थों में अनुरक्त होकर खूँख्वार जङ्गली जानवरों की तरह एक-दूसरे को निगलने के घृणित कार्य में लगी हुई मानवजाति के लिये वैदिक-संस्कृति द्वारा **'वर्णव्यवस्था'** का ठोस आविष्कार कर सकेंगे। यही है वेदों के सांस्कृतिक विश्लेषण की एक आकर्षक कहानी। ❐

संस्कृत-भाषा का महत्त्व

पं0 सत्यपाल मधुर

हमें संस्कृति भाषा का अब करना है सम्मान रे।
इसके साहित्य में अद्‌भुत भरा हुआ है ज्ञान रे॥

परमप्रभु की प्यारी वाणी, चारों वेद इसी में है।
गौरव ग्रन्थ हमारे षड्दर्शन उपवेद इसी में है।
ब्राह्मण-ग्रन्थ इसी में करते वेदों का व्याख्यान रे॥

व्यास और बाल्मीकि का कविता मकरन्द इसी में है।
कालिदास भवभूति सुबन्धु का आनन्द इसी में है।
कई विदेशी विद्वानों ने गाया इसका गान से॥

सकल विश्व की भाषाओं की उत्पत्ति का मूल यही।
सब दोषों से रहित व्यवस्थित मानव के अनुकूल यही।
दयानन्द ने किया कार्य इसके लिये महान् रे॥

मुस्लिम विद्वानों में भी कितने ही इसके भक्त रहे।
इसके साहित्य अनुशीलन में हरदम अनुरक्त रहे।
कवि रहीम दाराशिकोह को जाने सभी जहान रे॥

धर्म नीति अध्यात्म सभी विद्यायें इसमें कल्याणी।
यही अमरभाषा सर्वोत्तम प्यारी 'मधुर' देववाणी।
मृतभाषा जो कहते इसको वे जन हैं नादान रे॥

यजुर्वेद में प्रश्नोत्तर मन्त्र

आचार्य सुधाकर
नारायण विहार, नई दिल्ली

यजुर्वेद कर्मकाण्ड का वेद है। इस वेद में प्रश्नोत्तर शैली के कुछ मन्त्र हैं, पाठकों के लाभार्थ कुछ मन्त्र हम प्रस्तुत कर रहे हैं –

– प्रश्न –

कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः। किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥ (यजु0 23/10, 45)

अर्थात् – कौन अकेला विचरता है ? कौन बार–बार प्रकट होता है ? शीत की औषधि क्या है ? बीज बोने का बड़ा स्थान क्या है ?

– उत्तर –

सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः। अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥ (यजु0 23/10, 46)

अर्थात् – सूर्य बिना सहाय के अकेला विचरता है। सूर्य के प्रकाश से चन्द्रलोक बार–बार प्रकाशित होता है। अग्नि ही शीत को हटाने की वस्तु है और पृथिवी के तुल्य बीज बोने का अन्य कोई स्थान नहीं।

– प्रश्न –

किꣳस्वित्सूर्य्यसमं ज्योतिः किꣳ समुद्रसमꣳसरः। किꣳस्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते॥ (यजु0 23/47)

अर्थात् – कौन सूर्य के समान प्रकाश स्वरूप है ? कौन समुद्र के समान जलाधार है ? भूमि से बड़ा कौन है ? और किस वस्तु का परिमाण नहीं है ?

– उत्तर –

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः द्यौः समुद्र समꣳसरः। इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते॥ (यजु0 23/48)

अर्थात् – सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान् ज्योति ब्रह्म है। समुद्र के समान जलाधार सरोवर अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष पृथिवी से भी बड़ा है और वाणी एक ऐसा साधन है जिसका परिमापन नहीं किया जा सकता।

– प्रश्न –

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳस्विदा-सीद् बृहद्वयः। का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला॥ (यजु0 23/53)

अर्थात् – संचित होनेवाली प्रथम वस्तु क्या है ? वर्धनशील पक्षी कौन है ? कौन चिकनी व आर्द्र है ? और अवयवों को निगलने वाली कौन है ?

– उत्तर –

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद् वयः। अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत् पिशङ्गिला॥ (यजु0 23/54)

अर्थात् – विद्युत् प्रथम संचय है। महतत्त्व बड़ा उत्पत्ति स्वरूप है। प्रकृति चिकनी व आर्द्र है और सब अवयवों को निगलने वाली प्रलय है। ❐

शिष्टाचार (Good Manners)

जमुना दास
सहारनपुर (उत्तर-प्रदेश)

समय के अनुसार आजकल शिष्टाचार की अति आवश्यकता है। मनुष्य को संसार में बहुत-सी वस्तुओं की ज़रूरत पड़ती है। उनको अपनाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के वह साधन अपनाता और सीखता है, ताकि उसका जीवन सुखदायक बने। परन्तु शिष्टाचार सीखने के लिए उसके पास कोई समय नहीं, न ही कोई स्थान या साधन है। स्कूलों, कॉलेजों, गुरुकुलों और दूसरी संस्थाओं में भी कोई विशेष प्रबन्ध नहीं है। यही कारण है कि मनुष्य का जीवन शुष्क, दुःखदायक और चिड़चिड़ा बन जाता है। जैसे बिना पेट्रोल के गाड़ी ठीक नहीं चलती, पुर्जे जल्दी घिस जाते हैं, उसी तरह जीवन भी शिष्टाचार के बिना नीरस और शुष्क-सा प्रतीत होने लगता है। ऐसे मनुष्यों के जीवन का अन्त जल्दी हो जाता है, और उन्हें कई प्रकार की कठिनाईयों को सहना पड़ता है।

जितने भी संसार में या हमारे देश में महान् व्यक्ति हुए हैं, उनके स्वभाव अति शील और मीठे तथा व्यवहार में भी प्रत्येक को अपना बना लेने वाले रहे। वे शत्रु के साथ भी मित्रता का बर्ताव करते हैं, जिससे शत्रु अपनी शत्रुता भूलकर मित्रता का दामन थाम लेता है। साधारण पुरुष उन जैसे नहीं बन सकते, परन्तु उनका अनुकरण तो भली प्रकार कर सकते हैं। उससे उनके जीवन में जो कठिनाईयाँ आती हैं, वह आसानी से दूर होंगी और उनका जीवन सुखमय होगा। शिष्टाचार एक ऐसा गुण है, जिसके सीखने या अपनाने में कोई व्यय नहीं करना पड़ता है। परन्तु यह अपने और दूसरों के जीवन में मिठास व आनन्द भर देता है।

"Sweet words cost nothing but mean much" इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुशल व्यवहार सम्बन्धी बातें बचपन में सिखाई जानी चाहिये, परन्तु प्रत्येक को चाहिये कि वह चाहे छोटा हो या बड़ा, उन बातों को सीखने व अपनाने में संकोच न करे।

आप जानते ही हैं कि शीलता के विपरीत क्रोध करने से कितनी हानि होती है। प्रतिदिन आपको इसके दुःखमय परिणाम देखने पड़ते हैं। छोटी-छोटी बातों पर क्रोध आ जाता है, क़तल हो जाते हैं, जो एक छोटे से शब्द **'क्षमा'** के साधारण प्रयोग से रोके जा सकते हैं। **"Never Be Angry"** न करें। यदि क्रोध आवे तो बोलने से पहले दस तक गिनो। यह नहीं कहा जा सकता कि हमें क्रोध नहीं आता है। हम देवता तो हैं नहीं, मनुष्य हैं। क्रोध आता है, किन्तु उसको टाला भी जा सकता है। उसके टालने के साधन हैं। इससे हम कई कठिनाईयों से बच सकते हैं। छोटे-बड़े, निर्धन-धनी,

अधिकारी-कर्मचारी, मालिक-नौकर और सभी मिलने वालों से सद्व्यवहार करें। मीठा बोलें, ताकि संसार में जो कटुता, दुःख, निराशा पाई जाती है, वह कम से कम दिखायी दे और संसार सुन्दर प्रेममय, दुःखरहित, आशावान् और शिष्टाचारवान् हो। हम सुखी तभी रह सकते हैं, यदि दूसरों को अपने शिष्टाचार से सुखी बनाने का प्रयत्न करें।

नीचे कुछ शब्द जो शिष्टाचार के नाते आप समय-समय पर प्रयोग में लावें, ताकि दूसरे भी देखकर आपका अनुकरण करें और जीवन को सुखमय और प्रसन्नतामय बनावें -

(1) "नमस्ते जी" प्रत्येक से।

(2) "जी-हां" हर उत्तर में हर एक से।

(3) "कृपया" वस्तु माँगते समय।

(4) "क्षमा करें" कोई त्रुटि होने पर।

(5) "धन्यवाद" कोई चीज़, उपकार, प्रशंसा लेते समय।

(6) "थोड़ा बालें, अधिक सुनें; हमारे दो कान हैं, एक जिह्वा।"

(7) "किसी से बात करते समय जंभाई-छींक न लें। ध्यान से बात सुनें।"

(8) "जेबों में हाथ डालकर अपने से ऊँचे वर्ग के साथ बात न करें। माता-पिता एवं अध्यापक आदि से।"

(9) "राष्ट्रीय-गीत होते समय सावधान खड़े रहें।"

(10) "बिना आज्ञा किसी के घर में न जावें"।

(12) "ऊँचे स्थान पर बिना आज्ञा न बैठें"।

(11) "दो मनुष्यों से बात करते समय बीच में न बोलें।"

(13) "हर बात मीठी भाषा में बोलें"।

(14) "किसी के दिल को न दुःखायें"।

(15) "मुस्कराने का सदा स्वभाव बनायें"।

ऊपर लिखी बातों, यानि नियमों को अपनाने से आपका स्वभाव मीठा और जीवन सुखमय बन सकता है। रात को सोते समय विचारें कि आपने इन बातों में से किन-किन को प्रयोग में लिया है, और किन-किन का उल्लङ्घन किया है। लाभ और हानि का अपने-आप पता लग जावेगा।

क्रोधी मनुष्य अपनी हानि अधिक करता है, उसकी अपेक्षा जिस पर वह क्रोधित होता है। क्रोध से रक्त में एक प्रकार का विष भर जाता है, मुख की आभा घट जाती है और जल्दी बुढ़ापे के समीप व्यक्ति पहुँच जाता है।

अन्त में सार यह है कि शिष्टाचार के बिना मनुष्य एक लोहे की मशीन के तुल्य होता है, जो चलता-फिरता सब काम करता है, परन्तु उसमें दया, मिठास और आनन्द का अभाव होता है। वह न आप कोई किसी प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है और न ही किसी दूसरे को खुश कर सकता है।

उच्चकोटि की विद्या प्राप्त कर लेना बिना शिष्टाचार के सब व्यर्थ है। विद्याहीन एक किसान जिसमें शिष्टाचार है, उस विद्वान् से कहीं अच्छा है, जिसमें इन बातों का अभाव है। ❐